Year 12, Issue 45
Jan.-March, 2015

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE (LIMKA BOOK RECORD HOLDER)

कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर
लिम्का बुक रिकॉर्ड होल्डर

वर्ष १२ - अंक ४५, जनवरी-मार्च २०१५

हरित वर्ण

पद्मश्री डॉ. श्याम सिंह शशि

केरल की हरीतिमा
पुकारती है -
मेरे देश के अतिवादियों,
वर्ण-अवर्ण-सवर्ण को
कुवर्ण में क्यों तलाशते हो?
यदि वर्ण ही
चुनाव है तुम्हारे जीवन का
तो एक बार हरित वर्ण को
भी देख जाओ
यहां हरियाली के अनेक रूप हैं
फिर भी सब एक हैं
कोई अवर्ण नहीं
कोई सवर्ण नहीं
केरल के पात
यहाँ जात नहीं पालते
ये हरित वर्ण हैं
रंग भिन्न -भिन्न हैं
किंतु वर्ण एक है !

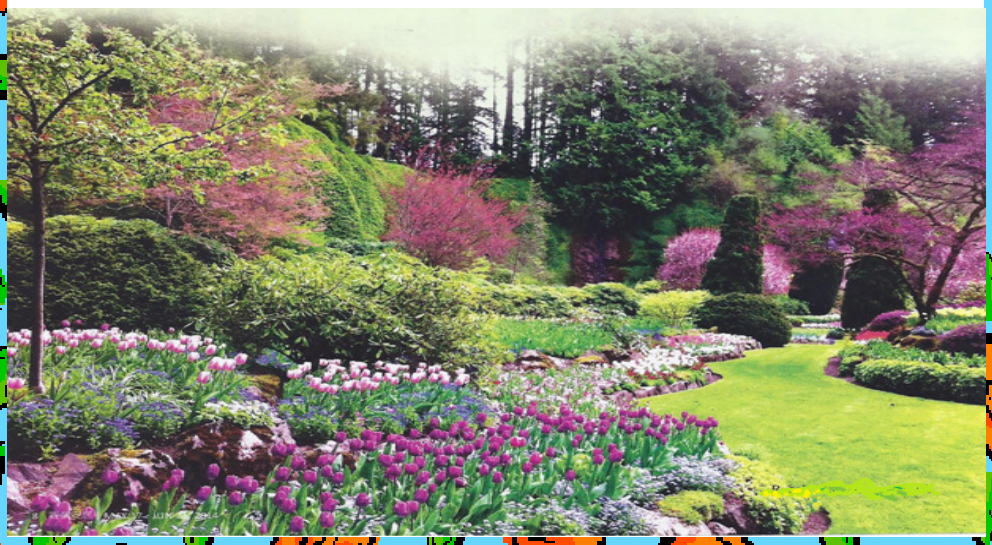

वसुधा

संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
पिता जी के नाम भगत सिंह का पत्र		३
याद आते हैं आज भी भगतसिंह	राज शेखर व्यास	४
कृष्ण	डॉ राम मनोहर लोहिया	७
मदनशलाका बोलो न!	पूनम 'मनु'	१७
चार लाल	पुखराज	१९
सिक्का सच का चलता है	कैलाश 'सनातन' यादव	२२
हे मेरे स्त्रीत्व	वसुंधरा पाण्डेय	२३
२१वीं सदी में भी गाँधी मार्ग	अरुण तिवारी	२४
मानवता बच जाएगी!	छाया त्रिवेदी	२६
आ रही रवि की सवारी	हरिवंश राय बच्चन	२७
नारी-मन	स्नेह ठाकुर	२८
माँ	दिव्या माथुर	३३
गाँधी होने का अर्थ	भारत यायावर	३४
हिमाभिषेक	अनन्त आलोक	३७
नारी वेदना : आस्था-अनास्था की पगडंडियों पर श्रद्धेय होने की	यतीन्द्र नाथ चतुर्वेदी	३८
क्या यही प्यार है..	हेमा महाडीक लोखंडे	४०
विस्थापन की त्रासदी	डॉ. शिबन कृष्ण रैणा	४१
आईने काले हो गए	प्रभात 'परवाना'	४२
आशीर्वाद	ऊर्मिल शर्मा	४३
फागुनी सुहाग	रजनी मोरवाल	४४
हरित वर्ण	पद्मश्री डॉ. श्याम सिंह शशि	१अ
फागुन के दिन आ गए....	मनोज कुमार शुक्ल	४४अ

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534
वार्षिक शुल्क Annual subscription.....$25.00
डाक द्वारा By Mail, Canada & USA.....$35.00, Other Countries.....$40.00
Website: http://www.Vasudha1.webs.com
e-mail: sneh.thakore@rogers.com

संपादकीय

रचनाकारों, पाठकों, हितैषियों, सभी की शुभाकांक्षाओं के फलस्वरूप वसुधा अपने जीवन के ११ वर्ष पूरे कर चुकी है. भारतीय संस्कृति की परम्परा में किसी भी शुभ अवसर पर शगुन देने के लिए ११, २१, ५१, १०१ आदि की संख्या शुभ मानी जाती है. कदाचित ० से बढ़कर १ का महत्व है यह. वसुधा उन सबकी आभारी है जिन्होंने उसे ० से उठाकर ११ के महत्वपूर्ण अंक पर पहुँचा दिया है.

वसुधा का जन्म और विकास प्रिय हिन्दी के प्रचार-प्रसार विकास की प्रगति की ओर उन्मुख कदमों की उपलब्धि है. यह वसुधा से सम्बंधित सभी शुभाकांक्षियों की, उसके हितैषियों की, हिन्दी के प्रति समर्पण की उपलब्धि है. उसे इस अवधि तक जीवित रख, पुष्पित-पल्लवित कर इस अवस्था तक पहुँचाने वाले हाथों का श्रेय स्वीकारते हुए, वसुधा सभी के प्रति नतमस्तक है कि जिनके अथक प्रयासों से वह अभी तक हिन्दी की अनवरत सेवा करने में सक्षम हो सकी है. और कामना करती है कि भविष्य में भी उनका सार्थक सहयोग उसे प्राप्त होता रहे.

गत वर्ष भारत के प्रधानमंत्री माननीय श्री नरेन्द्र मोदी जी ने न्यूयॉर्क की अपनी यात्रा के दौरान राजनीतिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर, आधिकारिक व प्रवासी भारतीय दोनों के प्रति सम्पर्क भाषा हेतु हिन्दी को प्रधानता दी. यह हिन्दी के प्रति समर्पण का द्योतक है. श्री नरेन्द्र मोदी जी की मातृ-भाषा गुजराती है. स्वाभाविक है कि सभी को अपनी-अपनी मातृभाषा से प्रेम होता है, उन्हें भी है, तथापि उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रयोग कर हम सभी प्रवासियों को, भारतीय क्षेत्रीय मातृभाषा वालों को, क्षेत्रीय भाषाओं की बड़ी बहन हिन्दी के एकाधिपत्य बृहद छत्र के नीचे संगठित रहने का प्रोत्साहन दिया.

श्री नरेन्द्र मोदी जी द्वारा संयुक्तराष्ट्र महासभा में हिन्दी में दिए गए भाषण ने जहाँ एक ओर हिन्दी के प्रति आश्वस्त किया, वहीं २००७ में न्यूयॉर्क में आयोजित 'आठवाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन' की स्मृति को भी जगा दिया जिसकी कैनेडा से विशिष्ट अतिथि के रूप में साक्षी होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था. और जब संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रांगण व उसके मुख्य सभागार में भारतीयों और प्रवासी भारतीयों के कंठों से निकले हिन्दी के निनाद ने अपनी मधुर कल-कल ध्वनि से चहुँ ओर प्रवाहित हो उन्हें गुंजायमान कर दिया था. कदाचित अब हिन्दी का संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा बनने का स्वप्न सफलीभूत होने का समय निकट आ गया है. कामना है कि नव वर्ष हिन्दी के लिए मंगलमय हो.

दूसरी भाषाओं का ज्ञान अच्छी बात है. यह तो मस्तिष्क के व्यायाम के लिये एक बड़ा ही उपयोगी उपादान है, साधन है. भाषाएँ जितनी ही ज़्यादा आयेंगी मस्तिष्क उतनी ही ज़्यादा जुगाली करेगा, जो उसे उसी मात्रा में तीक्ष्ण बनायेंगी. आज की ग्लोबल कम्युनिटी में अन्य भाषाओं का ज्ञान सैद्धांतिक व व्यावहारिक, दोनों ही रूप से लाभदायी है. हम भारतवासी तो सदैव से ही वसुधैव कुटुम्बकम् की धारणा को मानते चले आये हैं. तथापि अपनी भाषा का सम्मान सर्वोपरि होना चाहिए.

सभी मित्रों को यह जानकार प्रसन्नता होगी कि श्रीराम की कृपा से मेरा सवा चार सौ से अधिक पृष्ठों का नया उपन्यास 'लोक-नायक राम' प्रकाशित हो गया है. आशा है कि इसे भी मेरे पूर्व उपन्यास 'कैकेयी चेतना-शिखा' जिसका एक साल में द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हो गया था, की भाँति ही आप सबका स्नेह प्राप्त होगा. ईश्वर अनुकम्पा से 'कैकेयी चेतना-शिखा' के लिए साहित्य अकादमी म.प्र. ने दिसम्बर २०१४ में अखिल भारतीय 'वीरसिंह देव' पुरस्कार सम्मान की घोषणा की है.

नव वर्ष आतंकवाद से रहित हो. आपस में सद्भावना का हाथ थामे विश्व प्रगति की ओर बढ़े;

इस मंगलकामना के साथ

सस्नेह स्नेह ठाकुर

पिताजी के नाम भगतसिंह का पत्र

घर को अलविदा

पूज्य पिताजी,

नमस्ते

मेरी जिंदगी मकसदे आला (ऊँचा उद्देश्य) यानी आजादी-ए-हिन्द के असूल (सिद्धांत) के लिए वक्फ (दान) हो चुकी है। इसलिए मेरी जिंदगी में आराम और दुनियावी खाहशात (सांसारिक इच्छाएँ) वायसे कशिश (आकर्षक) नहीं है।

आपको याद होगा कि जब मैं छोटा था तो बापूजी ने मेरे यज्ञोपवीत के वक्त ऐलान किया था कि मुझे खिदमते वतन (देशसेवा) के लिए वक्फ कर दिया गया है। लिहाजा मैं उस वक्त की प्रतिज्ञा पूरी कर रहा हूँ।

उम्मीद है आप मुझे माफ़ फ़रमाएँगे

आपका ताबेदार

भगतसिंह

सौजन्य से - प्रो. मधुमास चन्द्र

याद आते हैं आज भी भगतसिंह

(२३मार्च - शहीद दिवस पर श्रद्धांजलि के रूप में - सम्पादक)

राजशेखर व्यास

('अंगरेजों की जड़ हिल चुकी है, वे पन्द्रह सालों में चले जाएँगे, समझौता हो जाएगा, पर उससे जनता को कोई लाभ नहीं होगा, काफ़ी साल अफरा-तफरी में बीतेंगे, उसके बाद लोगों को मेरी याद आएगी'। भगत सिंह)

भगतसिंह की शहादत को अनेक वर्ष होने को आए, लेकिन आज भी अगर भगतसिंह सामायिक और प्रासंगिक लगते है तो वज़ह उनके विचारों की यह ताजगी ही है। पिछले दशकों में देश में जो अफरातफरी मची है उस समय भगतसिंह आए बिना रह भी नहीं सकते। कौन जानेगा मात्र २३ वर्ष की अल्पायु में हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी, संस्कृत, पंजाबी, बंगला और आयरिश भाषा के मर्मज्ञ चिंतक और विचारक भगतसिंह भारत में समाजवाद के पहले व्याख्याता थे।

कालमार्क्स और लेनिन की तरह वे अपने देश में समाजवाद के सबसे प्रखर चिंतक और अपने समकालीन लगभग सभी राजनेताओं से वैचारिक दृष्टि में एक इंच ऊपर थे। अब यह बात सप्रमाण कही जा सकती है। मसलन १९३० में बैठकर कौन व्यक्ति यह कह सकता है कि 'लगभग १५ वर्ष बाद स्वतंत्रता तो मिल ही जाएगी पर वह स्वतंत्रता एक किस्म की सत्ता का हस्तांतरण ही होगा, किसी-न-किसी किस्म का समझौता होगा।'

पंजाब की भाषा समस्या पर विचार करते वक्त मानों वर्षों पूर्व वे आज के भाषा विवाद को भी देख लेते हैं। सांप्रदायिक दंगों और धर्म को लेकर उनके विचार आज बेहद ज़रूरी नजर आते हैं। एक तरफ बापू का दरिद्रों को दरिद्र नारायण कहना, दरिद्रता को महिमामंडित करना और २३ वर्ष की अल्पायु में भगतसिंह का यह जान लेना - 'क्या तुम्हें पता है कि दुनिया में सबसे बड़ा पाप गरीब होना है? गरीबी एक अभिशाप है, यह एक दंड है ('मैं नास्तिक क्यों हूँ' का एक अंश)

'कारावास की काल कोठरियों से लेकर झोपड़ियों तथा बस्तियों में तड़पते लाखों इंसानों समुदाय से लेकर, उन शोषित मजदूरों से लेकर जो पूंजीवादी पिशाच द्वारा खून चूसने की प्रक्रिया को धैर्यपूर्वक या यह कहना चाहिए कि निरूत्साहित होकर देख रहे हैं तथा उस मानव शक्ति की बरबादी देख रहे हैं जिसे देखकर कोई व्यक्ति जिसे तनिक भी सहज ज्ञान है भय से सिहर उठेगा और अधिक उत्पादन को जरूरतमंद लोगों में बाँटने के बजाए समुद्र में फेंक देना बेहतर समझने से लेकर राजाओं के उन महलों तक जिनकी नींव मानव की हड्डियों पर पड़ी है उसको यह सब देखने दो और फिर कहो कि सब कुछ ठीक है।'

'तुम क्या सोचते हो किसी गरीब तथा अनपढ़ परिवार जैसे चमार या मेहतर के यहाँ पैदा होने पर इंसान का क्या भाग्य होगा क्योंकि वह गरीब है इसलिए वह पढ़ाई नहीं कर सकता, वह अपने साथियों से तिरस्कृत तथा त्यक्त रहता है। जो ऊँची जाति में पैदा होने के कारण अपने आप को ऊँचा

समझता है। उसका ज्ञान उसकी गरीबी तथा उसके साथ किया गया व्यवहार उसके हृदय को समाज के प्रति निष्ठुर बना देता है। यदि वो कोई पाप करता है तो उसका फल कौन भोगेगा? ईश्वर, वह स्वयं या समाज के मनुष्य?'

मेरे प्रिय दोस्तों, ये सिद्धांत विशेषाधिकार युक्त लोगों के अविष्कार हैं। वह अपनी हथियाई हुई शक्ति, पूंजी तथा उच्चता को इन सिद्धांतों के आधार पर सही ठहराते हैं।

जी हाँ, शायद वह 'अप्टन सिंकलियर' ही था जिसने किसी जगह लिखा था 'मनुष्य को बस अमरत्व में विश्वास दिला दो और उसके बाद उसका सारा धन और संपत्ति लूट लो। वह बगैर बढ़-बढ़ाए इस कार्य में तुम्हारी सहायता करेगा। धर्म के उपदेशकों तथा सत्ता के स्वामियों के गठबंधन से ही जेल, फांसीधर, कोठे और ये सिद्धांत उपजते हैं।'

ऐसा नहीं है कि प्रारंभ से भगतसिंह धार्मिक थे और बाद में नास्तिक हो गए हो। क्रांतिकारी विचारों के दार्शनिक भविष्य दृष्टा भगतसिंह बचपन से ही नास्तिक प्रकृति के थे। उनकी उम्र बमुश्किल से तब ८-९ साल की रही होगी। गाँव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ते थे। एक दिन उनकी छोटी बहन अमरकौर कहीं से एक कागज ले आई। यह किसी प्राचीन धार्मिक पुस्तक का काग़ज था। बड़े चाव से उन्होंने भगतसिंह को दिया। भगतसिंह ने उसे पढ़ा, देखा। फिर बोले - अमरों, अंग्रेजों के साथ ही धर्म ने भी हमारे देश में बहुत गड़बड़ कर रखी है। मैं अंग्रेजों के साथ इसे भी खत्म कर दूँगा।

बीबी अमरकौर के शब्दों में उन्होंने उस काग़ज को जमीन पर पटक दिया और दोनों पैर से उसके ऊपर खड़े हो गए। उस समय उनका चेहरा ऐसा तमतमा रहा था जैसे वह अपने किसी दुश्मन को खत्म कर रहे हों। वर्षों बाद जब वे लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज में पढ़ते थे । जहाँ प्रतिदिन हवन होता था और आँखें मूंदकर प्रार्थना होती थी जिसमें मोक्ष की भी बात होती थी। भगतसिंह ने उसमें कभी भी रूचि नहीं दिखाई बल्कि इससे विद्रोह भी किया। उनकी यह छटपटाहट तब और भी बढ़ गई जब उन्होंने कॉलेज गेट पर बैठे बूढ़े बाबा को ठंड में ठिठुरते, काँपते हुए चने बेचते हुए देखा। भगतसिंह ने उससे पूछा, 'तुम्हारा और कोई नहीं बाबा? तराजू उससे संभल नहीं रही थी। कंपकंपी में उसने उत्तर दिया - 'नहीं' । पास खड़े एक सहपाठी ने उत्तर दिया -'यह सब इसके कर्मों का फल है।'

एकदम से फट पड़े भगतसिंह । बोले - 'यह सब बहलावा है। इस बूढ़े को रोटी और काम का सहारा समाज से मिलना चाहिए. जब तक एक मनुष्य भी भूखा है, हम सब दोषी हैं क्योंकि हम सब खा रहे हैं. जब तक एक मनुष्य भी बंधन में है, हम सब भी स्वतंत्र नहीं हैं। पर यह सब आँख मूँदकर मोक्ष की प्रार्थना करने से नहीं सोचा जा सकता.

इस घटना के कुछ बरस बाद जब उनसे उनके क्रांतिकारी मित्र ने पूछा - तुम क्या करोगे ? कैसे व्यवस्था करेंगे ? इन सब मामलों को कैसे निपटाओगे। तब तक अपने गंभीर राजनैतिक अध्ययन चिंतन से उनकी दृष्टि और स्पष्ट व साफ हो गई थी। उन्होंने पूरी दृढ़ता से कहा था - अगर हमें सरकार बनाने का अवसर मिलेगा तो किसी के पास प्राइवेट प्रॉपर्टी नहीं होगी, सबको काम मिलेगा। मित्र ने पूछा और धर्म का क्या करोगे? क्या उसे गैर-कानूनी करार दोगे? उनका उत्तर था - धर्म व्यक्तिगत् विश्वास की चीज होगी, सामूहिक नहीं.

अमर शहीद भगतसिंह को हमेशा से एक क्रांतिकारी देशभक्त के रूप में जाना जाता है। मगर वे सिर्फ एक क्रांतिकारी देशभक्त ही नहीं बल्कि एक अध्ययनशीरल विचारक, कलम के धनी, दार्शनिक, चिंतक, लेखक, पत्रकार और महान मनुष्य थे। अपनी २३ वर्ष की छोटी-सी आयु में फ्रांस, आयरलैंड और रूस की क्रांति का विषद अध्ययन किया था। नेशनल कॉलेज से लेकर फाँसी की कोठरी तक उनका यह अध्ययन बराबर जारी रहा और इसी अध्ययन के ही सहारे अन्ततः वे गंभीर चिंतक और क्रांतिकारी दार्शनिक बने। अनेक भाषाओं के जानकार भगतसिंह ने 'अकाली' और 'कीर्ति' दो अखबारों का संपादन भी किया। 'चांद' मासिक का जब्तशुदा फाँसी अंक भगतसिंह की संपादन योग्यता का उत्कृष्ट नमूना है। दल के पर्चे, पोस्टर तथा सारे साहित्य का सृजन आम तौर पर भगतसिंह अकेले ही करते थे। खेद तो इस बात का है कि एक महान उत्कृष्ट विचारक के ये महत्वपूर्ण विचार राष्ट्र के तथाकथित कर्णधारों के षड़यंत्रों के फलस्वरूप अब तक उन तक नहीं पहुँचे हैं, जिनके लिए वे शहीद हुए।

महान विचारक योद्धा भगतसिंह अपने विचारों, चिंतन और दर्शन के लिए भला क्यों न कई शताब्दियों तक प्रासंगिक रहेंगे! उनके विचार सदियों तक दिल और दिमागों में आग लगाते रहेंगे।

कृष्ण

डॉ. राममनोहर लोहिया

कृष्ण की सभी चीजें दो हैं : दो माँ, दो बाप, दो नगर, दो प्रेमिकाएँ या यों कहिए अनेक। जो चीज संसारी अर्थ में बाद की या स्वीकृत या सामाजिक है, वह असली से भी श्रेष्ठ और अधिक प्रिय हो गई है। यों कृष्ण देवकीनंदन भी हैं, लेकिन यशोदानंदन अधिक। ऐसे लोग मिल सकते हैं जो कृष्ण की असली माँ, पेट-माँ का नाम न जानते हों, लेकिन बाद वाली दूध वाली, यशोदा का नाम न जानने वाला कोई निराला ही होगा। उसी तरह, वसुदेव कुछ हारे हुए से हैं, और नंद को असली बाप से कुछ बढ़कर ही रुतबा मिल गया है। द्वारिका और मथुरा की होड़ करना कुछ ठीक नहीं, क्योंकि भूगोल और इतिहास ने मथुरा का साथ दिया है। किंतु यदि कृष्ण की चले, तो द्वारिका और द्वारिकाधीश, मथुरा और मथुरापति से अधिक प्रिय रहे। मथुरा से तो बाललीला और यौवन-क्रीड़ा की दृष्टि से, वृंदावन और बरसाना वगैरह अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रेमिकाओं का प्रश्न जरा उलझा हुआ है। किसकी तुलना की जाए, रुक्मिणी और सत्यभामा की, राधा और रुक्मिणी की या राधा और द्रौपदी की। प्रेमिका शब्द का अर्थ संकुचित न कर सखा-सखी भाव को ले के चलना होगा। अब तो मीरा ने भी होड़ लगानी शुरू की है। जो हो, अभी तो राधा ही बड़भागिनी है कि तीन लोक का स्वामी उसके चरणों का दास है। समय का फेर और महाकाल शायद द्रौपदी या मीरा को राधा की जगह तक पहुंचाए, लेकिन इतना संभव नहीं लगता। हर हालत में, रुक्मिणी राधा से टक्कर कभी नहीं ले सकेगी।

मनुष्य की शारीरिक सीमा उसका चमड़ा और नख हैं। यह शारीरिक सीमा, उसे अपना एक दोस्त, एक माँ, एक बाप, एक दर्शन वगैरह देती रहती है। किंतु समय हमेशा इस सीमा से बाहर उछलने की कोशिश करता रहता है, मन ही के द्वारा उछल सकता है। कृष्ण उसी तत्व और महान प्रेम का नाम है जो मन को प्रदत्त सीमाओं से उलांघता-उलांघता सबमें मिला देता है, किसी से भी अलग नहीं रखता। क्योंकि कृष्ण तो घटनाक्रमों वाली मनुष्य-लीला है, केवल सिद्धांतों और तत्वों का विवेचन नहीं, इसलिए उसकी सभी चीजें अपनी और एक की सीमा में न रहकर दो और निरापनी हो गई हैं। यों दोनों में ही कृष्ण का तो निरापना है, किंतु लीला के तौर पर अपनी माँ, बीवी और नगरी से पराई बढ़ गई है। पराई को अपनी से बढ़ने देना भी तो एक मानी में अपनेपन को खत्म करना है। मथुरा का एकाधिपत्य खत्म करती है द्वारिका, लेकिन उस क्रम में द्वारिका अपना श्रेष्ठतत्व जैसा कायम कर लेती है।

भारतीय साहित्य में माँ है यशोदा और लला है कृष्ण। माँ-लला का इनसे बढ़कर मुझे तो कोई संबंध मालूम नहीं, किंतु श्रेष्ठत्व भर ही तो कायम होता है। मथुरा हटती नहीं और न रुक्मिणी, जो मगध के जरांसध से लेकर शिशुपाल होती हुई हस्तिनापुर की द्रौपदी और पांच पांडवों तक एक-रूपता बनाए रखती है। परकीया स्वकीया से बढ़कर उसे खत्म तो करता नहीं, केवल अपने और पराए की दीवारों को ढहा देता है। लोभ, मोह, ईर्ष्या, भय इत्यादि की चहारदीवारी से अपना या स्वकीय छुटकारा पा जाता है। सब अपना और, अपना सब हो जाता है। बड़ी रसीली लीला है कृष्ण की, इस राधा-कृष्ण या द्रौपदी-सखा और रुक्मिणी-रमण की कहीं चर्म सीमित शरीर में, प्रेमानंद और खून की गर्मी और तेजी में, कमी नहीं। लेकिन यह सब रहते हुए भी कैसा निरापना।

कृष्ण है कौन? गिरधर, गिरधर गोपाल! वैसे तो मुरलीधर और चक्रधर भी है, लेकिन कृष्ण का गुह्यतम रूप तो गिरधर गोपाल में ही निखरता है। कान्हा को गोवर्धन पर्वत अपनी कानी उंगली पर क्यों उठाना पड़ा था? इसलिए न कि उसने इंद्र की पूजा बंद करवा दी और इंद्र का भोग खुद खा गया, और भी खाता रहा। इंद्र ने नाराज होकर पानी, ओला, पत्थर बरसाना शुरू किया, तभी तो कृष्ण को गोवर्धन उठाकर अपने गो और गोपालों की रक्षा करनी पड़ी। कृष्ण ने इंद्र का भोग खुद क्यों खाना चाहा? यशोदा और कृष्ण का इस संबंध में गुहय विवाद है। माँ इंद्र को भोग लगाना चाहती है, क्योंकि वह बड़ा देवता है, सिर्फ वास से ही तृप्त हो जाता है, और उसकी बड़ी शक्ति है, प्रसन्न होने पर बहुत वर देता है और नाराज होने पर तकलीफ। बेटा कहता है कि वह इंद्र से भी बड़ा देवता है, क्योंकि वह तो वास से तृप्त नहीं होता और बहुत खा सकता है, और उसके खाने की कोई सीमा नहीं। यही है कृष्ण-लीला का गुह्य रहस्य। वास लेने वाले देवताओं से खाने वाले देवताओं तक की भारत-यात्रा ही कृष्ण-लीला है।

कृष्ण के पहले, भारतीय देव, आसमान के देवता हैं। निस्संदेह अवतार कृष्ण के पहले से शुरू हो गए। किंतु त्रेता का राम ऐसा मनुष्य है जो निरंतर देव बनने की कोशिश करता रहा। इसीलिए उसमें आसमान के देवता का अंश कुछ अधिक है। द्वापर का कृष्ण ऐसा देव है जो निरंतर मनुष्य बनने की कोशिश करता रहा। उसमें उसे संपूर्ण सफलता मिली। कृष्ण संपूर्ण अबोध मनुष्य है, खूब खाया-खिलाया, खूब प्यार किया और प्यार सिखाया, जनगण की रक्षा की और उसे रास्ता बताया, निर्लिप्त भोग का महान त्यागी और योगी बना।

इस प्रसंग में यह प्रश्न बेमतलब है कि मनुष्य के लिए, विशेषकर राजकीय मनुष्य के लिए, राम का रास्ता सुकर और उचित है या कृष्ण का। मतलब की बात तो यह है कि कृष्ण देव होता हुआ निरंतर मनुष्य बनता रहा। देव और निःस्व और असीमित होने के नाते कृष्ण में जो असंभव मनुष्यताएँ हैं, जैसे झूठ, धोखा और हत्या, उनकी नकल करने वाले लोग मूर्ख हैं, उसमें कृष्ण का क्या दोष। कृष्ण की संभव और पूर्ण मनुष्यताओं पर ध्यान देना ही उचित है, और एकाग्र ध्यान। कृष्ण ने इंद्र को हराया, वास लेने वाले देवों को भगाया, खाने वाले देवों को प्रतिष्ठित किया, हाड़, खून, माँस वाले मनुष्य को देव बनाया, जन-गण में भावना जाग्रत की कि देव को आसमान में मत खोजो, खोजो यहीं अपने बीच, पृथ्वी पर। पृथ्वी वाला देव खाता है, प्यार करता है, मिलकर रक्षा करता है।

कृष्ण जो कुछ करता था, जमकर करता था, खाता था जमकर, प्यार करता था जमकर, रक्षा भी जमकर करता था : पूर्ण भोग, पूर्ण प्यार, पूर्ण रक्षा। कृष्ण की सभी क्रियाएँ उसकी शक्ति के पूरे इस्तेमाल से ओत-प्रोत रहती थीं, शक्ति का कोई अंश बचाकर नहीं रखता था, कंजूस बिल्कुल नहीं था, ऐसा दिलफेंक, ऐसा शरीरफेंक चाहे मनुष्यों से संभव न हो, लेकिन मनुष्य ही हो सकता है, मनुष्य का आदर्श, चाहे जिसके पहुंचने तक हमेशा एक सीढ़ी पहले रुक जाना पड़ता हो। कृष्ण ने, खुद गीत गाया है स्थितप्रज्ञ का, ऐसे मनुष्य का जो अपनी शक्ति का पूरा और जमकर इस्तेमाल करता हो। 'कूर्मोगानीव' बताया है ऐसे मनुष्य को। कछुए की तरह यह मनुष्य अपने अंगों को बटोरता है, अपनी इंद्रियों पर इतना संपूर्ण प्रभुत्व है इसका कि इंद्रियार्थों से उन्हें पूरी तरह हटा लेता है, कुछ लोग कहेंगे कि यह तो भोग का उल्टा हुआ। ऐसी बात नहीं। जो करना, जमकर - भोग भी, त्याग भी। जमा हुआ भोगी कृष्ण, जमा हुआ योगी तो था ही। शायद दोनों में विशेष अंतर नहीं। फिर भी, कृष्ण ने एकांगी परिभाषा दी, अचल स्थितप्रज्ञ की, चल स्थितप्रज्ञ की नहीं। उसकी परिभाषा तो दी तो इंद्रियार्थों में लपेटकर, घोलकर। कृष्ण खुद तो दोनों था, परिभाषा में एकांगी रह गया। जो काम जिस समय कृष्ण करता था,

उसमें अपने समग्र अंगों का एकाग्र प्रयोग करता था, अपने लिए कुछ भी नहीं बचता था। अपना तो था ही नहीं कुछ उसमें। 'कूर्मोगानीव' के साथ-साथ 'समग्र-अंग-एकाग्री' भी परिभाषा में शामिल होना चाहिए था। जो काम करो, जमकर करो, अपना पूरा मन और शरीर उसमें फेंककर। देवता बनने की कोशिश में मनुष्य कुछ कृपण हो गया है, पूर्ण आत्मसमर्पण वह कुछ भूल-सा गया है। जरूरी नहीं है कि वह अपने-आपको किसी दूसरे के समर्पण करे। अपने ही कामों में पूरा आत्मसमर्पण करे। झाड़ू लगाए तो जमकर, या अपनी इंद्रियों का पूरा प्रयोग कर युद्ध में रथ चलाए तो जमकर, श्यामा मालिन बनकर राधा को फूल बेचने जाए तो जमकर, अपनी शक्ति का दर्शन ढूँढे और गाए तो जमकर। कृष्ण ललकारता है मनुष्य को अकृपण बनने के लिए, अपनी शक्ति को पूरी तरह और एकाग्र उछालने के लिए। मनुष्य करता कुछ है, ध्यान कुछ दूसरी तरफ रहता है। झाड़ू देता है फिर भी कूड़ा कोनों में पड़ा रहता है। एकाग्र ध्यान न हो तो सब इंद्रियों का अकृपण प्रयोग कैसे हो। 'कूर्मोगानीव' और 'समग्र-अंग-एकाग्री' मनुष्य को बनना है। यही तो देवता की मनुष्य बनने की कोशिश है। देखो, माँ, इंद्र खाली वास लेता है, मैं तो खाता हूँ।

आसमान के देवताओं को जो भगाए उसे बड़े पराक्रम और तकलीफ के लिए तैयार रहना चाहिए, तभी कृष्ण को पूरा गोवर्धन पर्वत अपनी छोटी उँगली पर उठाना पड़ा। इंद्र को वह नाराज कर देता और अपनी गउओं की रक्षा न करता, तो ऐसा कृष्ण किस काम का। फिर कृष्ण के रक्षा-युग का आरंभ होने वाला था। एक तरह से बाल और युवा-लीला का शेष ही गिरिधर लीला है। कालिया-दहन और कंस वध उसके आसपास के हैं। गोवर्धन उठाने में कृष्ण की उँगली दु:खी होगी, अपने गोपों और सखाओं को कुछ झुंझला कर सहारा देने को कहा होगा। माँ को कुछ इतरा कर उँगली दुखने की शिकायत की होगी। गोपियों से आँख लड़ाते हुए अपनी मुस्कान द्वारा कहा होगा। उसके पराक्रम पर अचरज करने के लिए राधा और कृष्ण की तो आपस में गंभीर और प्रफुल्लित मुद्रा रही होगी। कहना कठिन है कि किसकी ओर कृष्ण ने अधिक निहारा होगा, माँ की ओर इतरा कर, या राधा की ओर प्रफुल्ल होकर। उँगली बेचारे की दुख रही थी। अब तक दुख रही है, गोवर्धन में तो यही लगता है। वहीं पर मानस गंगा है। जब कृष्ण ने गऊ वंश रूपी दानव को मारा था, राधा बिगड़ पड़ी और इस पाप से बचने के लिए उसने उसी स्थल पर कृष्ण से गंगा माँगी। बेचारे कृष्ण को कौन-कौन-से असंभव काम करने पड़े हैं। हर समय वह कुछ न कुछ करता रहा है दूसरों को सुखी बनाने के लिए। उसकी उँगली दुख रही है। चलो, उसको सहारा दें।

गोवर्धन में सड़क चलते कुछ लोगों ने, जिनमें पंडे होते ही हैं, प्रश्न किया कि मैं कहाँ का हूँ? मैंने छेड़ते हुए उत्तर दिया, राम की अयोध्या का। पंडों ने जवाब दिया, सब माया एक है। जब मेरी छेड़ चलती रही तो एक ने कहा कि आखिर सत्तू वाले राम से गोवर्धन वासियों का नेह कैसे चल सकता है। उनका दिल तो माखन-मिसरी वाले कृष्ण से लगा है। माखन-मिसरी वाला कृष्ण, सत्तू वाला राम कुछ सही है, पर उसकी अपनी उँगली अब तक दुख रही है।

एक बार मथुरा में सड़क चलते एक पंडे से मेरी बातचीत हुई। पंडों की साधारण कसौटी से उस बातचीत का कोई नतीजा न निकला, न निकलने वाला था। लेकिन क्या मीठी मुस्कान से उस पंडे ने कहा कि जीवन में दो मीठी बात ही तो सब कुछ है। कृष्ण मीठी बात करना सिखा गया है। आसमान वाले देवताओं को भगा गया है, माखन-मिसरी वाले देवों की प्रतिष्ठा कर गया है। लेकिन उसका अपना कौन-कौन-सा अंग अब तक दुख रहा है।

कृष्ण की तरह एक और देवता हो गया है जिसने मनुष्य बनने की कोशिश की। उसका राज्य संसार में अधिक फैला। शायद इसलिए कि वह गरीब बढ़ई का बेटा था और उसकी अपनी जिंदगी में

वैभव और ऐश न था। शायद इसलिए कि जन-रक्षा का उसका अंतिम काम ऐसा था कि उसकी उँगली सिर्फ न दुखी, उसके शरीर का रोम-रोम सिहरा और अंग-अंग टूटकर वह मरा। अब तक लोग उसका ध्यान करके अपने सीमा बाँधने वाले चमड़े से बाहर उछलते हैं। हो सकता है कि ईसू मसीह दुनिया में केवल इसलिए फैल गया है कि उसका विरोध उन रोमियों से था जो आज की मालिक सभ्यता के पुरखे हैं। ईसू रोमियों पर चढ़ा। रोमी आज के यूरोपियों पर चढ़े। शायद एक कारण यह भी हो कि कृष्ण-लीला का मजा ब्रज और भारतभूमि के कण-कण से इतना लिपटा है कि कृष्ण की नियति कठिन है। जो भी हो, कृष्ण और क्रिस्टोस दोनों ने आसमान के देवताओं को भगाया। दोनों के नाम और कहानी में भी कहीं-कहीं सादृश्य है। कभी दो महाजनों की तुलना नहीं करनी चाहिए। दोनों अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ हैं। फिर भी, क्रिस्टोस प्रेम के आत्मोसर्गी अंग के लिए बेजोड़ और कृष्ण संपूर्ण मनुष्य-लीला के लिए। कभी कृष्ण के वंशज भारतीय शक्तिशाली बनेंगे, तो संभव है उसकी लीला दुनिया-भर में रस फैलाए।

कृष्ण बहुत अधिक हिंदुस्तान के साथ जुड़ा हुआ है। हिंदुस्तान के ज्यादातर देव और अवतार अपनी मिट्टी के साथ सने हुए हैं। मिट्टी से अलग करने पर वे बहुत कुछ निष्प्राण हो जाते हैं। त्रेता का राम हिंदुस्तान की उत्तर-दक्षिण एकता का देव है। द्वापर का कृष्ण देश की पूर्व-पश्चिम एकता का देव है। राम उत्तर-दक्षिण और कृष्ण पूर्व-पश्चिम धुरी पर घूमे। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि देश को उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम एक करना ही राम और कृष्ण का धर्म था। यों सभी धर्मों की उत्पत्ति राजनीति से है, बिखरे हुए स्वजनों को इकठ्ठा करना, कलह मिटाना, सुलह कराना और हो सके तो अपनी और सबकी सीमा को ढहाना। साथ-साथ जीवन को कुछ ऊँचा उठाना, सदाचार की दृष्टि से और आत्म-चिंतन की भी।

देश की एकता और समाज के शुद्धि संबंधी कारणों और आवश्यकताओं से संसार के सभी महान धर्मों की उत्पत्ति हुई है। अलबत्ता, धर्म इन आवश्यकताओं से ऊपर उठकर, मनुष्य को पूर्ण करने की भी चेष्टा करता है। किंतु भारतीय धर्म इन आवश्यकताओं से जितना ओत-प्रोत है, उतना और कोई धर्म नहीं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि राम और कृष्ण के किस्से तो मनगढ़ंत गाथाएँ हैं, जिनमें एक अद्वितीय उद्देश्य हासिल करना था, इतने बड़े देश के उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम को एक रूप में बाँधना था। इस विलक्षण उद्देश्य के अनुरूप ही ये विलक्षण किस्से बने। मेरा मतलब यह नहीं कि सब के सब किस्से झूठे हैं। गोवर्धन पर्वत का किस्सा जिस रूप में प्रचलित है उस रूप में झूठा तो है ही, साथ-साथ न जाने कितने और किस्से, जो कितने और आदमियों के रहे हों, एक कृष्ण अथवा राम के साथ जुड़ गए हैं। जोड़ने वालों को कमाल हासिल हुआ। यह भी हो सकता है कि कोई न कोई चमत्कारिक पुरुष राम और कृष्ण के नाम हुए हों। चमत्कार भी उनका संसार के इतिहास में अनहोना रहा हो। लेकिन उन गाथाकारों का यह कम अनहोना चमत्कार नहीं है, जिन्होंने राम और कृष्ण के जीवन की घटनाओं को इस सिलसिले और तफसील में बाँधा है कि इतिहास भी उसके सामने लजा गया है। आज के हिंदुस्तानी राम और कृष्ण की गाथाओं की एक-एक तफसील को चाव से और सप्रमाण जानते हैं, जबकि ऐतिहासिक बुद्ध और अशोक उनके लिए धुंधली स्मृति-मात्र रह गए हैं।

महाभारत हिंदुस्तान की पूर्व-पश्चिम यात्रा है, जिस तरह रामायण उत्तर-दक्षिण यात्रा है। पूर्व-पश्चिम यात्रा का नायक कृष्ण है, जिस तरह उत्तर-दक्षिण यात्रा का नायक राम है। मणिपुर से द्वारिका तक कृष्ण या उसके सहचरों का पराक्रम हुआ है, जैसे जनकपुर से श्रीलंका तक राम या उसके सहचरों का। राम का काम अपेक्षाकृत सहज था। कम से कम उस काम में एकरसता अधिक थी। राम का मुकाबला या दोस्ती हुई भील, किरात, किन्नर, राक्षस इत्यादि से, जो उसकी अपनी सभ्यता से अलग

थे। राम का काम था इनको अपने में शामिल करना और उनको अपनी सभ्यता में ढाल देना, चाहे हराए बिना या हराने के बाद।

कृष्ण को वास्ता पड़ा अपने ही लोगों से। एक ही सभ्यता के दो अंगों में से एक को लेकर भारत की पूर्व-पश्चिम एकता कृष्ण को स्थापित करनी पड़ी। इस काम में पेंच ज्यादा थे। तरह-तरह की संधि और विग्रह का क्रम चला। न जाने कितनी चालाकियाँ और धूर्तताएँ भी हुईं। राजनीति का निचोड़ भी सामने आया - ऐसा छनकर जैसा फिर और न हुआ। अनेकों ऊंचाइयाँ भी छुई गईं। दिलचस्प किस्से भी खूब हुए। जैसी पूर्व-पश्चिम राजनीति जटिल थी, वैसे ही मनुष्यों के आपसी संबंध भी, खासकर मर्द-औरत के। अर्जुन की मणिपुर वाली चित्रागंदा, भीम की हिडंबा, और पांचाली का तो कहना ही क्या। कृष्ण की बुआ कुंती का एक बेटा था अर्जुन, दूसरा कर्ण, दोनों अलग-अलग बापों से, और कृष्ण ने अर्जुन को कर्ण का छल-वध करने के लिए उकसाया। फिर भी, क्यों जीवन का निचोड़ छनकर आया? क्योंकि कृष्ण जैसा निस्व मनुष्य न कभी हुआ और उससे बढ़कर तो कभी होना भी असंभव है। राम उत्तर-दक्षिण एकता का न सिर्फ नायक बना, राजा भी हुआ। कृष्ण तो अपनी मुरली बजाता रहा। महाभारत की नायिका द्रौपदी से महाभारत के नायक कृष्ण ने कभी कुछ लिया नहीं, दिया ही।

पूर्व-पश्चिम एकता की दो धुरियाँ स्पष्ट ही कृष्ण-काल में थीं। एक पटना-गया की मगध-धुरी और दूसरी हस्तिनापुर-इंद्रप्रस्थ की कुरु-धुरी। मगध-धुरी का भी फैलाव स्वयं कृष्ण की मथुरा तक था जहाँ मगध-नरेश जरासंध का दामाद कंस राज्य करता था। बीच में शिशुपाल आदि मगध के आश्रित-मित्र थे। मगध-धुरी के खिलाफ कुरु-धुरी का सशक्त निर्माता कृष्ण था। कितना बड़ा फैलाव किया कृष्ण ने इस धुरी का। पूर्व में मणिपुर से लेकर पश्चिम में द्वारिका तक इस कुरु-धुरी में समावेश किया। देश की दोनों सीमाओं, पूर्व की पहाड़ी सीमा और पश्चिम की समुद्री सीमा को फांसा और बाँधा। इस धुरी को कायम और शक्तिशाली करने के लिए कृष्ण को कितनी मेहनत और कितने पराक्रम करने पड़े, और कितनी लंबी सूझ सोचनी पड़ी। उसने पहला वार अपने ही घर मथुरा में मगधराज के दामाद पर किया। उस समय सारे हिंदुस्तान में यह वार गूंजा होगा। कृष्ण की यह पहली ललकार थी। वाणी द्वारा नहीं, उसने कर्म द्वारा रण-भेरी बजाई। कौन अनसुनी कर सकता था। सबको निमंत्रण हो गया यह सोचने के लिए कि मगध राजा को अथवा जिसे कृष्ण कहे उसे सम्राट के रूप में चुनो। अंतिम चुनाव भी कृष्ण ने बड़े छली रूप में रखा। कुरु-वंश में ही न्याय-अन्याय के आधार पर दो टुकड़े हुए और उनमें अन्यायी टुकड़ी के साथ मगध-धुरी को जुड़वा दिया। कृष्ण संसार ने सोचा होगा कि वह तो कुरुवंश का अंदरूनी और आपसी झगड़ा है। कृष्ण जानता था कि वह तो इंद्रप्रस्थ-हस्तिनापुर की कुरु-धुरी और राजगिरि की मगध-धुरी का झगड़ा है।

राजगिरि राज्य कंस-वध पर तिलमिला उठा होगा। कृष्ण ने पहले ही वार में मगध की पश्चिमी शक्ति को खत्म-सा कर दिया। लेकिन अभी तो ताकत बहुत ज्यादा बटोरनी और बढ़ानी थी। यह तो सिर्फ आरंभ था। आरंभ अच्छा हुआ। सारे संसार को मालूम हो गया। लेकिन कृष्ण कोई बुद्धू थोड़े ही था जो आरंभ की लड़ाई को अंत की बना देता। उसके पास अभी इतनी ताकत तो थी नहीं जो कंस के ससुर और उसकी पूरे हिंदुस्तान की शक्ति से जूझ बैठता। वार करके, संसार को डंका सुना के कृष्ण भाग गया। भागा भी बड़ी दूर, द्वारिका में। तभी से उसका नाम रणछोड़दास पड़ा। गुजरात में आज भी हजारों लोग, शायद एक लाख से भी अधिक लोग होंगे, जिनका नाम रणछोड़दास है। पहले मैं इस नाम पर हँसा करता था, मुस्काना तो कभी न छोड़ूंगा। यों, हिंदुस्तान में और भी देवता हैं जिन्होंने अपना पराक्रम भागकर दिखाया जैसे ज्ञानवापी के शिव ने। यह पुराना देश है। लड़ते-लड़ते थकी हड्डियों को भागने का अवसर मिलना चाहिए। लेकिन कृष्ण थकी पिंडलियों के कारण नहीं भागा। वह भागा जवानी की बढ़ती हुई हड्डियों के कारण। अभी हड्डियों को बढ़ाने और फैलाने का मौका चाहिए था।

कृष्ण की पहली लड़ाई तो आज तक की छापामार लड़ाई की तरह थी, वार करो और भागो। अफसोस यही है कि कुछ भक्त लोग भागने ही में मजा लेते हैं।

द्वारिका मथुरा से सीधे फासले पर करीब ७०० मील है। वर्तमान सड़कों की यदि दूरी नापी जाए तो करीब १,०५० मील होती है। बिचली दूरी इस तरह करीब ८५० मील होती है। कृष्ण अपने शत्रु से बड़ी दूर तो निकल ही गया, साथ ही साथ देश की पूर्व-पश्चिम एकता हासिल करने के लिए उसने पश्चिम के आखिरी नाके को बाँध लिया। बाद में, पांचों पांडवों के बनवास युग में अर्जुन की चित्रांगदा और भीम की हिडंबा के जरिए उसने पूर्व के आखिरी नाके को भी बाँधा। इन फासलों को नापने के लिए मथुरा से अयोध्या, अयोध्या से राजमहल और राजमहल से इम्फाल की दूरी जानना ज़रूरी है। यही रहे होंगे उस समय के महान राजमार्ग। मथुरा से अयोध्या की बिचली दूरी करीब ३०० मील है। अयोध्या से राजमहल करीब ४७० मील है। राजमहल से इम्फाल की बिचली दूरी करीब सवा पांच सौ मील हो, यों वर्तमान सड़कों से फासला करीब ८५० मील और सीधा फासला करीब ३८० मील है। इस तरह मथुरा से इम्फाल का फासला उस समय के राजमार्ग द्वारा करीब १,६०० मील रहा होगा। कुरु-धुरी के केंद्र पर कब्जा करने और उसे सशक्त बनाने के पहले कृष्ण केंद्र से ८०० मील दूर भागा और अपने सहचरों और चेलों को उसने १,६०० मील दूर तक घुमाया। पूर्व-पश्चिम की पूरी भारत यात्रा हो गई। उस समय की भारतीय राजनीति को समझने के लिए कुछ दूरियाँ और जानना ज़रूरी है। मथुरा से बनारस का फासला करीब ३७० मील और मथुरा से पटना करीब ५०० मील है। दिल्ली से, जो तब इंद्रप्रस्थ थी, मथुरा का फासला करीब ९० मील है। पटने से कलकत्ते का फासला करीब सवा तीन सौ मील है। कलकत्ते के फासले का कोई विशेष तात्पर्य नहीं, सिर्फ इतना ही कि कलकत्ता भी कुछ समय तक हिंदुस्तान की राजधानी रहा है, चाहे गुलाम हिंदुस्तान की। मगध-धुरी का पुनर्जन्म एक अर्थ में कलकत्ते में हुआ। जिस तरह कृष्ण-कालीन मगध-धुरी के लिए राजगिरि केंद्र है, उसी तरह ऐतिहासिक मगध-धुरी के लिए पटना या पाटलिपुत्र केंद्र है, और इन दोनों का फासला करीब ४० मील है। पटना-राजगिरि केंद्र का पुनर्जन्म कलकत्ते में होता है, इसका इतिहास के विद्यार्थी अध्ययन करें, चाहे अध्ययन करते समय संतापपूर्ण विवेचन करें कि यह काम विदेशी तत्वावधान में क्यों हुआ।

कृष्ण ने मगध-धुरी का नाश करके कुरु-धुरी की क्यों प्रतिष्ठा करनी चाही? इसका एक उत्तर तो साफ है, भारतीय जागरण का बाहुल्य उस समय उत्तर और पश्चिम में था जो राजगिरि और पटना से बहुत दूर पड़ जाता था। उसके अलावा मगध-धुरी कुछ पुरानी बन चुकी थी, शक्तिशाली थी, किंतु उसका फैलाव संकुचित था। कुरु-धुरी नई थी और कृष्ण इसकी शक्ति और इसके फैलाव दोनों का ही सर्वशक्तिसंपन्न निर्माता था, मगध-धुरी को जिस तरह चाहता शायद न मोड़ सकता, कुरु-धुरी को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ और फैला सकता था। सारे देश को बाँधना जो था उसे। कृष्ण त्रिकालदर्शी था। उसने देख लिया होगा कि उत्तर-पश्चिम में आगे चलकर यूनानियों, हूणों, पठानों, मुगलों आदि के आक्रमण होंगे इसलिए भारतीय एकता की धुरी का केंद्र कहीं वहीं रचना चाहिए, जो इन आक्रमणों का सशक्त मुकाबला कर सके। लेकिन त्रिकालदर्शी क्यों न देख पाया कि इन विदेशी आक्रमणों के पहले ही देशी मगध-धुरी बदला चुकाएगी और सैकड़ों वर्ष तक भारत पर अपना प्रभुत्व कायम करेगी और आक्रमण के समय तक कृष्ण की भूमि के नजदीक यानी कन्नौज और उज्जैन तक खिसक चुकी होगी, किंतु अशक्त अवस्था में। त्रिकालदर्शी ने देखा शायद यह सब कुछ हो, लेकिन कुछ न कर सका हो। वह हमेशा के लिए अपने देशवासियों को कैसे ज्ञानी और साधु दोनों बनाता। वह तो केवल रास्ता दिखा सकता था। रास्ते में भी शायद त्रुटि थी। त्रिकालदर्शी को यह भी देखना चाहिए था कि उसके रास्ते पर

ज्ञानी ही नहीं, अनाड़ी भी चलेंगे और वे कितना भारी नुकसान उठाएँगे। राम के रास्ते चलकर अनाड़ी का भी अधिक नहीं बिगड़ता, चाहे बनना भी कम होता है। अनाड़ी ने कुरु-पांचाल संधि का क्या किया?

कुरु-धुरी की आधार-शिला थी कुरु-पांचाल संधि। आसपास के इन दोनों इलाकों का वज्र समान एका कायम करना था जो कृष्ण ने उन लीलाओं के द्वारा किया, जिनसे पांचाली का विवाह पांचों पांडवों से हो गया। यह पांचाली भी अद्‌भुत नारी थी। द्रौपदी से बढ़कर, भारत की कोई प्रखर-मुखी और ज्ञानी नारी नहीं। कैसे कुरु सभा को उत्तर देने के लिए ललकारती है कि जो आदमी अपने को हार चुका है क्या दूसरे को दांव पर रखने की उसमें स्वतंत्र सत्ता है?

पांचों पांडव और अर्जुन भी उसके सामने फीके थे। यह कृष्णा तो कृष्ण के ही लायक थी। महाभारत का नायक कृष्ण, नायिका कृष्णा। कृष्णा और कृष्ण का संबंध भी विश्व-साहित्य में बेमिसाल है। दोनों सखा-सखी का संबंध पूर्ण रूप से मन की देन थी या उसमें कुरु-धुरी के निर्माण और फैलाव का अंश था? जो हो, कृष्णा और कृष्ण का यह संबंध राधा और कृष्ण के संबंध से कम नहीं, लेकिन साहित्यिकों और भक्तों की नजर इस ओर कम पड़ी है। हो सकता है कि भारत की पूर्व-पश्चिम एकता के इस निर्माता को अपनी ही सीख के अनुसार केवल कर्म, न कि कर्मफल का अधिकारी होना पड़ा, शायद इसलिए कि यदि वह व्यस्क कर्मफल-हेतु बन जाता, तो इतना अनहोना निर्माता हो ही नहीं सकता था। उसने कभी लालच न की कि अपनी मथुरा को ही धुरी-केंद्र बनाए, उसके लिए दूसरों का इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर ही अच्छा रहा। उसी तरह कृष्णा को भी सखी रूप में रखा, जिसे संसारी अपनी कहता है, वैसी न बनाया। कौन जाने कृष्ण के लिए यह सहज था या इसमें भी उसका दिल दुखा था।

कृष्णा अपने नाम के अनुरूप सांवली थी, महान सुंदरी रही होगी। उसकी बुद्धि का तेज, उसकी चकित-हरिणी आंखों में चमकता रहा होगा। गोरी की अपेक्षा सुंदर सांवली, नखशिख और अंग में अधिक सुडौल होती है। राधा गोरी रही होगी। बालक और युवक कृष्ण राधा में एकरस रहा। प्रौढ़ कृष्ण के मन पर कृष्णा छाई रही होगी, राधा और कृष्ण तो एक थे ही। कृष्ण की संतानें कब तक उसकी भूल दोहराती रहेंगी। बेखबर जवानी में गोरी से उलझना और अधेड़ अवस्था में श्यामा को निहारना। कृष्ण-कृष्णा संबंध में और कुछ हो न हो, भारतीय मर्दों को श्यामा की तुलना में गोरी के प्रति अपने पक्षपात पर मनन करना चाहिए।

रामायण की नायिका गोरी है। महाभारत की नायिका कृष्णा है। गोरी की अपेक्षा सांवली अधिक सजीव है। जो भी हो, इसी कृष्ण-कृष्णा संबंध का अनाड़ी हाथों फिर पुनर्जन्म हुआ। न रहा उसमें कर्मफल और कर्मफल हेतु त्याग। कृष्णा पांचाल यानी कन्नौज के इलाके की थी, संयुक्ता भी। धुरी-केंद्र इंद्रप्रस्थ का अनाड़ी राजा पृथ्वीराज अपने पुरखे कृष्ण के रास्ते न चल सका। जिस पांचाली द्रौपदी के जरिए कुरु-धुरी की आधार-शिला रखी गई, उसी पांचाली संयुक्ता के जरिए दिल्ली-कन्नौज की होड़ जो विदेशियों के सफल आक्रमणों का कारण बना। कभी-कभी लगता है कि व्यक्ति का तो नहीं लेकिन इतिहास का पुनर्जन्म होता है, कभी फीका कभी रंगीला। कहाँ द्रौपदी और कहाँ संयुक्ता, कहाँ कृष्ण और कहाँ पृथ्वीराज, यह सही है। फीका और मारात्मक पुनर्जन्म लेकिन पुनर्जन्म तो है ही।

कृष्ण की कुरु-धुरी के और भी रहस्य रहे होंगे। साफ है कि राम आदर्शवादी एकरूप एकत्व का निर्माता और प्रतीक था। उसी तरह जरासंध भौतिकवादी एकत्व का निर्माता था। आजकल कुछ लोग कृष्ण और जरासंध युद्ध को आदर्शवाद-भौतिकवाद का युद्ध मानने लगे हैं। वह सही जंचता है, किंतु अधूरा विवेचन। जरासंध भौतिकवादी एकरूप एकत्व का इच्छुक था। बाद के मगधीय मौर्य और गुप्त राज्यों में कुछ हद तक इसी भौतिकवादी एकरूप एकत्व का प्रादुर्भाव हुआ और उसी के अनुरूप बौद्ध धर्म का। कृष्ण आदर्शवादी बहुरूप एकत्व का निर्माता था। जहाँ तक मुझे मालूम है, अभी तक भारत का

निर्माण भौतिकवादी एकत्व के आधार पर कभी नहीं हुआ। चिर चमत्कार तो तब होगा जब आदर्शवाद और भौतिकवाद के मिले-जुले बहुरूप एकत्व के आधार पर भारत का निर्माण होगा। अभी तक तो कृष्ण का प्रयास ही सर्वाधिक मानवीय मालूम होता है, चाहे अनुकरणीय राम का एकरूप एकत्व ही हो। कृष्ण की बहुरूपता में वह त्रिकाल-जीवन है जो औरों में नहीं।

कृष्ण यादव-शिरोमणि था, केवल क्षत्रिय राजा ही नहीं, शायद क्षत्री उतना नहीं था, जितना अहीर। तभी तो अहीरिन राधा की जगह अडिग है, क्षत्राणी द्रौपदी उसे हटा न पाई। विराट् विश्व और त्रिकाल के उपयुक्त कृष्ण बहुरूप था। राम और जरासंध एकरूप थे, चाहे आदर्शवादी एकरूपता में केंद्रीयकरण और क्रूरता कम हो, लेकिन कुछ न कुछ केंद्रीयकरण तो दोनों में होता है। मौर्य और गुप्त राज्यों में कितना केंद्रीयकरण था, शायद क्रूरता भी।

बेचारे कृष्ण ने इतनी नि:स्वार्थ मेहनत की, लेकिन जन-मन में राम ही आगे रहा है। सिर्फ बंगाल में ही मुर्दे - 'बोल हरि, हरि बोल' के उच्चारण से - अपनी आखरी यात्रा पर निकाले जाते हैं, नहीं तो कुछ दक्षिण को छोड़कर सारे भारत में हिंदू मुर्दे 'राम नाम सत्य है' के साथ ही ले जाए जाते हैं। बंगाल के इतना तो नहीं, फिर भी उड़ीसा और असम में कृष्ण का स्थान अच्छा है। कहना मुश्किल है कि राम और कृष्ण में कौन उन्नीस, कौन बीस है। सबसे आश्चर्य की बात है कि स्वयं ब्रज के चारों ओर की भूमि के लोग भी वहाँ एक-दूसरे को 'जैरामजी' से नमस्ते करते हैं। सड़क चलते अनजान लोगों को भी यह 'जैरामजी' बड़ा मीठा लगता है, शायद एक कारण यह भी हो।

राम त्रेता के मीठे, शांत और सुसंस्कृत युग का देव है। कृष्ण पके, जटिल, तीखे और प्रखर बुद्धि युग का देव है। राम गम्य है, कृष्ण अगम्य है। कृष्ण ने इतनी अधिक मेहनत की कि उसके वंशज उसे अपना अंतिम आदर्श बनाने से घबड़ाते हैं, यदि बनाते भी हैं तो उसके मित्रभेद और कूटनीति की नकल करते हैं, उसका अथक निस्व उनके लिए असाध्य रहता है। इसीलिए कृष्ण हिंदुस्तान में कर्म का देव न बन सका। कृष्ण ने कर्म राम से ज्यादा किए हैं। कितने संधि और विग्रह और प्रदेशों के आपसी संबंधों के धागे उसे पलटने पड़ते थे। यह बड़ी मेहनत और बड़ा पराक्रम था। इसके यह मतलब नहीं कि प्रदेशों के आपसी संबंधों में कृष्णनीति अब भी चलाई जाए। कृष्ण जो पूर्व-पश्चिम की एकता दे गया, उसी के साथ-साथ उस नीति का औचित्य भी खत्म हो गया। बच गया कृष्ण का मन और उसकी वाणी। और बच गया राम का कर्म। अभी तक हिंदुस्तानी इन दोनों का समन्वय नहीं कर पाए हैं। करें तो राम के कर्म में भी परिवर्तन आए। राम रोऊ है, इतना कि मर्यादा भंग होती है। कृष्ण कभी रोता नहीं। आंखें जरूर डबडबाती हैं उसकी, कुछ मौकों पर, जैसे जब किसी सखी या नारी को दुष्ट लोग नंगा करने की कोशिश करते हैं।

कैसे मन और वाणी थे उस कृष्ण के। अब भी तब की गोपियां और जो चाहें वे, उसकी वाणी और मुरली की तान सुनकर रस विभोर हो सकते हैं और अपने चमड़े के बाहर उछल सकते हैं। साथ ही कर्म-संग के त्याग, सुख-दु:ख, शीत-उष्ण, जय-अजय के समत्व के योग और सब भूतों में एक अव्यय भाव का सुरीला दर्शन उसकी वाणी से सुन सकते हैं। संसार में एक कृष्ण ही हुआ जिसने दर्शन को गीत बनाया।

वाणी की देवी द्रौपदी से कृष्ण का संबंध कैसा था। क्या सखा-सखी का संबंध स्वयं एक अंतिम सीढ़ी और असीम मैदान है, जिसके बाद और किसी सीढ़ी और मैदान की जरूरत नहीं? कृष्ण छलिया जरूर था, लेकिन कृष्णा से उसने कभी छल न किया। शायद वचनबद्ध था, इसलिए। जब कभी कृष्णा ने उसे याद किया, वह आया। स्त्री-पुरुष की किसलय-मित्रता को, आजकल के वैज्ञानिक, अवरुद्ध रसिकता के नाम से पुकारते हैं। यह अवरोध सामाजिक या मन के आंतरिक कारणों से हो सकता है। पांचों पांडव कृष्ण के भाई थे और द्रौपदी कुरु-पांचाल संधि की आधार-शिला थी। अवरोध के सभी कारण मौजूद थे।

फिर भी, हो सकता है कि कृष्ण को अपनी चित्तप्रवृत्तियों का कभी निरोध न करना पड़ा हो। यह उसके लिए सहज और अंतिम संबंध था, ठीक उतना ही सहज और रसमय, जैसा राधा से प्रेम का संबंध था। अगर यह सही है, तो कृष्ण-कृष्णा के सखा-सखी संबंध का ब्योरा दुनिया में विश्वास का होना चाहिए और तफसीली से, जिससे स्त्री-पुरुष संबंध का एक नया कमरा खुल सके। अगर राधा की छटा कृष्ण पर हमेशा छाई रहती है, तो कृष्ण की घटा भी उस पर छाई रहती है। अगर राधा की छटा निराली है, तो कृष्ण की घटा भी। छटा में तुष्टिप्रदान रस है, घटा में उत्कंठा-प्रधान कर्तव्य।

राधा-रस तो निराला है ही। राधा-कृष्ण हैं, राधा कृष्ण का स्त्री रूप और कृष्ण राधा का पुरुष रूप। भारतीय साहित्य में राधा का जिक्र बहुत पुराना नहीं है, क्योंकि सबसे पहली बार पुराण में आता है 'अनुराधा' के नाम से। नाम ही बताता है प्रेम और भक्ति का वह स्वरूप, जो आत्मविभोर है, जिससे सीमा बाँधने वाली चमड़ी रह नहीं जाती। आधुनिक समय में मीरा ने भी उस आत्मविभोरता को पाने की कोशिश की। बहुत दूर तक गई मीरा, शायद उतनी दूर गई जितना किसी सजीव देह को किसी याद के लिए जाना संभव हो। फिर भी, मीरा की आत्मविभोरता में कुछ गर्मी थी। कृष्ण को तो कौन जला सकता है, सुलगा भी नहीं सकता, लेकिन मीरा के पास बैठने में उसे जरूर कुछ पसीना आए, कम से कम गर्मी तो लगे। राधा न गरम है न ठंडी, राधा पूर्ण है। मीरा की कहानी एक और अर्थ में बेजोड़ है। पद्मिनी मीरा की पुरखिन थी। दोनों चित्तौड़ की नायिकाएँ हैं। करीब ढाई सौ वर्ष का अंतर है। कौन बड़ी है, वह पद्मिनी जो जौहर करती है या वह मीरा जिसे कृष्ण के लिए नाचने से कोई मना न कर सका। पुराने देश की यही प्रतिभा है। बड़ा जमाना देखा है इस हिंदुस्तान ने। क्या पद्मिनी थकती-थकती सैकड़ों वर्ष में मीरा बन जाती है? या मीरा ही पद्मिनी का श्रेष्ठ स्वरूप है? अथवा जब प्रताप आता है, तब मीरा फिर पद्मिनी बनती है। हे त्रिकालदर्शी कृष्ण! क्या तुम एक ही में मीरा और पद्मिनी नहीं बना सकते?

राधा-रस का पूरा मजा तो ब्रज-रज में मिलता है। मैं सरयू और अयोध्या का बेटा हूँ। ब्रज-रस में शायद कभी न लोट सकूँगा। लेकिन मन से तो लोट चुका हूँ। श्री राधा की नगरी बरसाने के पास एक रात रहकर मैंने राधारानी के गीत सुने हैं।

कृष्ण बड़ा छलिया था। कभी श्यामा मालिन बनकर, राधा को फूल बेचने आता था। कभी वैद्य बनकर आता था, प्रमाण देने कि राधा अभी ससुराल जाने लायक नहीं है। कभी राधा प्यारी को गोदाने का न्योता देने के लिए गोदनहारिन बनकर आता था। कभी वृंदा की साड़ी पहन कर आता था और जब राधा उससे एक बार चिपटकर अलग होती थी, शायद झुंझलाकर, शायद इतराकर, तब भी कृष्ण मुरारी को ही छट्ठी का दूध याद आता था, बैठकर समझाओ राधारानी को कि वृंदा से आंखें नहीं लड़ाईं। मैं समझता हूँ कि नारी अगर कहीं नर के बराबर हुई है, तो सिर्फ ब्रज में और कान्हा के पास। शायद इसीलिए आज भी हिंदुस्तान की औरतें वृंदावन में जमुना के किनारे एक पेड़ में रूमाल जितनी चुनड़ी बाँधने का अभिनय करती हैं। कौन औरत नहीं चाहेगी कन्हैया से अपनी चुनड़ी हरवाना, क्योंकि कौन औरत नहीं जानती कि दुष्टजनों द्वारा चीरहरण के समय कृष्ण ही उनकी चुनड़ी अनंत करेगा। शायद जो औरतें पेड़ में चीर बाँधती हैं, उन्हें यह सब बताने पर वह लजाएँगी, लेकिन उनके पुत्र पुण्य आदि की कामना के पीछे भी कौन-सी सुषुप्त याद है।

ब्रज की मुरली लोगों को इतना विह्वल कैसे बना देती है कि वे कुरुक्षेत्र के कृष्ण को भूल जाएँ और फिर मुझे तो लगता है कि अयोध्या का राम मणिपुर से द्वारिका के कृष्ण को कभी भुलाने न देगा। जहाँ मैंने चीर बाँधने का अभिनय देखा उसी के नीचे वृंदावन के गंदे पानी का नाला बहते देखा, जो जमुना से मिलता है और राधारानी के बरसाने की रंगीली गली में पैर बचा-बचाकर रखना पड़ता है कि

कहीं किसी गंदगी में न सन जाए। यह वही रंगीली गली है, जहाँ से बरसाने की औरतें हर होली पर लाठी लेकर निकलती हैं और जिनके नुक्कड़ पर नंद गांव में मर्द मोटे साफे बाँध और बड़ी ढालों से अपनी रक्षा करते हैं। राधारानी अगर कहीं आ जाए, तो वह इन नालों और गंदगियों को खत्म करे ही, बरसाने की औरतों के हाथ में इत्र, गुलाल और हल्के, भीनी महक वाले, रंग की पिचकारी थमाए और नंद गांव के मर्दों को होली खेलने के लिए न्योता दे। ब्रज में महक और नहीं है, कुंज नहीं है, केवल करील रह गए हैं। शीतलता खत्म है। बरसाने में मैंने राधारानी की अहीरिनों को बहुत ढूंढा। पांच-दस घर होंगे। वहाँ बनियाइनों और ब्राह्मणियों का जमाव हो गया है। जब किसी जात में कोई बड़ा आदमी या बड़ी औरत हुई, तीर्थ-स्थान बना और मंदिर और दुकानें देखते-देखते आईं, तब इन द्विज नारियों के चेहरे भी म्लान थे, गरीब, कृश और रोगी। कुछ लोग मुझे मूर्खतावश द्विज-शत्रु समझने लगे हैं। मैं तो द्विज-मित्र हूँ, इसलिए देख रहा हूँ कि राधारानी की गोपियों, मल्लाहिनों और चमाइनों को हटाकर द्विजनारियों ने भी अपनी कांति खो दी है। मिलाओ ब्रज की रज में पुष्पों की महक, दो हिंदुस्तान को कृष्ण की बहुरूपी एकता, हटाओ राम का एकरूपी द्विज-शूद्र धर्म, लेकिन चलो राम के मर्यादा वाले रास्ते पर, सच और नियम पालन कर।

सरयू और गंगा कर्तव्य की नदियाँ हैं। कर्तव्य कभी-कभी कठोर होकर अन्यायी हो जाता है और नुकसान कर बैठता है। जमुना और चंबल, केन तथा दूसरी जमुना-मुखी नदियां रस की नदियां हैं। रस में मिलन है, कलह मिटाता है। लेकिन आलस्य भी है, जो गिरावट में मनुष्य को निकम्मा बना देता है। इसी रसभरी इतराती जमुना के किनारे कृष्ण ने अपनी लीला की, लेकिन कुरु-धुरी का केंद्र उसने गंगा के किनारे ही बसाया। बाद में, हिंदुस्तान के कुछ राज्य जमुना के किनारे बने और एक अब भी चल रहा है। जमुना, क्या तुम कभी बदलोगी, आखिर गंगा में ही तो गिरती हो। क्या कभी इस भूमि पर रसमय कर्तव्य का उदय होगा। कृष्ण! कौन जाने तुम थे या नहीं। कैसे तुमने राधा-लीला को कुरु-लीला से निभाया। लोग कहते हैं कि युवा कृष्ण का प्रौढ़ कृष्ण से कोई संबंध नहीं। बताते हैं कि महाभारत में राधा का नाम तक नहीं। बात इतनी सच नहीं, क्योंकि शिशुपाल ने क्रोध में कृष्ण की पुरानी बातें साधारण तौर पर बिना नामकरण के बताई हैं। सभ्य लोग ऐसे जिक्र असमय नहीं किया करते, जो समझते हैं वे, और जो नहीं समझते वे भी। महाभारत में राधा का जिक्र हो कैसे सकता है। राधा का वर्णन तो वहीं होगा जहाँ तीन लोक का स्वामी उसका दास है। रास का कृष्ण और गीता का कृष्ण एक है। न जाने हजारों वर्ष से अभी तक पलड़ा इधर या उधर क्यों भारी हो जाता है? बताओ कृष्ण!

मदनशलाका बोलो न!

पूनम 'मनु'

कान्हा के व्रत कर
मन का आसव किसमें भर दूँ
उपभोग वस्तु मान केवल
रखे साथ जो
कैसे उसको कोई वर दूँ
मदनशलाका बोलो न !

पिंजर के बाहर तुम
मैं भीतर
जड़-सी क्यों हो ?
आज क्यों बहक न रही
आज क्यों चहक न रही तुम
मदनशलाका बोलो न !

जीवन राग सुन-सुन के
खिल उठे हैं
मन-प्राण जीवक के
झर रहे अंबर से मोती
ओस सुहानी पलकों पर
खिलती कलियों की
न धर रही आस कोई
ज्योत क्यों लहक न रही
आज क्यों चहक न रही तुम
मदनशलाका बोलो न!

आज़ादी हर दुहिता की
खटक रही हर आँख में
तिनका भर भी उड़ पाने को
नहीं उल्लास पाँख में
किरणों की बहियाँ थाम
अमरूद की छाँव-सी
मन से आतुर
खिड़की के मैं पार जाऊँ
हिय में फिर हूक उठी
बगिया क्यों महक न रही
आज क्यों चहक न रही तुम
मदनशलाका बोलो न!

मौन रह द्रोह-बीज क्यूँ बो रही
किस वेदना में जल चुप रो रही
क्यूँ नहीं तोड़ देती
किसी भी हठ से
मिथ्या की जंजीर हठीली
अंदर की आग बाहर
क्यों दहक न रही
आज क्यों चहक न रही तुम
मदनशलाका बोलो न!

चार लाल

पुखराज

पिछले वर्ष शीतकाल की छुट्टियों में मैं अपने गाँव गया हुआ था। शीत ऋतु में गर्मा–गर्म खाने–पीने व ऊनी कपड़े पहनने का आनन्द कुछ और ही होता है तो वहीं बूढ़ों के लिए यह मौसम कष्टदायक। कड़ाके की सर्दी में कई बूढ़ों के तो प्राण–पखेरू भी उड़ जाते हैं।

गाँव में हमारे पड़ौस में एक बुढ़िया थी, कड़ाके की सर्दी में उसके प्राण निकल जाते हैं। अब उसके घर में जोर–जोर से रोने–धोने की आवाजें होने लगी। थोड़ी ही देर में मृत्यु का समाचार आग की तरह चारों और फैल जाता है और लोग अपना काम–धन्धा छोड़–छोड़ कर मृत के घर आने लगते हैं। गाँवों में आज भी अपनापन व भाईचारा मौजूद है। जाति–समाज व आस–पास के सभी लोग मिलकर मृत व्यक्ति के परिवार–जनों को ढाँढस बँधाते हैं तथा मृत को शमशान में ले जाते हैं।

अंतिम संस्कार करने के बाद मृत व्यक्ति के घर पर पहली रात बिताना बड़ा भयानक होता है। मृत व्यक्ति की याद में सभी दुःखी रहते हैं तथा मृत व्यक्ति की प्रेतात्मा का भी भय बन जाता है। इसलिए रात कटाने के लिए आस–पास के बड़े–बूढ़े लोग मृत व्यक्ति के घर आ जाया करते हैं और रातभर वहीं रहते हैं। मैं भी चला गया। रात्रि का पहला व दूसरा प्रहर तो इधर–उधर की बातों में निकल गया, परन्तु तीसरे प्रहर में नींद आने लगी तो पास में बैठे एक वृद्धजन ने जागते रहने के लिए एक कहानी सुनानी शुरू की कि –

'कई वर्षों पहले एक गाँव में एक किसान रहता था। उसका नाम सीताराम था। उसके पास पूर्वजों की जमीन थी, जिस पर वह चौमाासा की खेती किया करता था। इस खेती से ऊपजे अनाज से वह सालभर अपने परिवार का भरण–पोषण कर लिया करता था। सीताराम के परिवार में उसकी पत्नी गलकू व दो बेटे रामू व श्यामू थे। सीताराम के साथ–साथ उसकी पत्नी व बेटे भी खेत में थोड़ा बहुत काम करते और आनन्द के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

एक बार चौमासा में वर्षा नहीं हुई और अकाल पड़ गया। अकाल का भयानक रूप अब सामने आने लगा। अनाज व चारे की कमी होने लगी तथा चारों ओर हा–हा कार होने लगा। गाँव में जीवन जीना अब मुश्किल होने लगा। महाजनों और बणियों ने अकाल में महँगाई बढ़ा दी व अब तो लोगों के भूखों मरने की नौबत आने लगी।

सीताराम स्वभाव से सरल व मितव्ययी था। इसलिए परिवार का भरण–पोषण अपने तरीके से करने लगा परन्तु उसके यहाँ भी अब अनाज की कमी होने लगी थी। अतः उसने गाँव छोड़ कर शहर में कमाने का इरादा किया।

किसान सीताराम के पास में चार लाल अर्थात् सोने की मोहरें थीं। ये मोहरें उसे उसके पिता ने दी थी जो उसे बेहद प्रिय थी। कई बार आई कठिनाईयों के समय में भी उसने उनका मोह नहीं छोड़ा था परन्तु वे उसे अपने परिवार से अधिक प्रिय न थीं। सीताराम ने कई दिन तो कष्ट–अभावों में बिता दिये परन्तु जब और अधिक सहा नहीं गया तो वह उन लालों को लेकर गाँव के एक बणिये के पास चला जाता है और बणिये से कहता है कि इन चारों लालों को वह अपने पास गिरवी रख ले तथा उसे कुछ रूपये व अनाज दे दे ताकि उसका परिवार भूखों न मरे। वह शहर में जाकर कमाएगा तथा धन ब्याज सहित चुकता कर देगा और अपनी चारों लालें वापिस ले लेगा।

बणिये ने किसान की बातें सुनी और मन में सोचने लगा कि आज तो घर बैठे ही सोने की मोहरें आ गयी हैं और चारों ओर अकाल भी पड़ा है। इस किसान से तो ये छूटेगी नहीं और कुछ दिनों में ये चारों लालें मेरी हो जाएंगी। ऐसा सोच कर बणिया प्रसन्न मन से किसान सीताराम को कुछ रूपये व अनाज दे देता है। जिन्हें लेकर वह अपने घर चला आता है और पत्नी व बच्चों को छोड़कर कलकत्ता शहर में कमाने के लिए चला जाता है।

किसान सीताराम ने अजनबी शहर में कुछ ही दिनों में अपने लिए काम ढूंढ निकाला और कठोर मेहनत करने लगा। वह तो बचपन से ही कठोर परिश्रमी था। अपने खेत में दिन–रात मेहनत

करता था। अतः कुछ ही महीनों में वह काफी धन कमा लेता है और चौमासा में अपने गाँव चला आता है। इस बार इन्द्र भगवान मेहरबान रहा और अच्छी वर्षा होने लगी जो जमाना अच्छा होने का संकेत थी।

किसान सीताराम अपने चार लाल लेने के लिए बणिये के पास जाता है और कहता है कि अपने रूपये लीजिए और मेरी चारों लालें वापिस दे दीजिए। बणिये ने दो–चार दिन तो काम का बहाना बना कर किसान को टरकाया, परन्तु किसान बणिये के पास बराबर जाता रहा तो आखिरकार बणिया मुकर जाता है और कहता है कि कौनसी चार लालें? मैं स्पष्ट कहे देता हूँ कि मेरे पास तेरी कोई लाल नहीं है और धमकी देता है कि ध्यान से सुन ले – आज के बाद इस सम्बन्ध में मेरे पास मत आना। इतना सुनते ही किसान पर तो पहाड़–सा टूट पड़ा। वह बणिये के सामने रोने लगा, गिड़गिड़ाने लगा परन्तु उस पर कोई असर नहीं हुआ। वह मन मसोसकर अपने घर चला जाता है। वह इस सम्बन्ध में कहे भी तो किसे कहे ? कोई उसके पास चार लाल होने की कैसे सोच सकता है? वह तो गरीब किसान है। उसने कभी किसी से इनके बारे में जिक्र भी नहीं किया था और न ही उसने चार लालें गिरवी रखने के बारे में किसी को बताया था, क्योंकि दूसरों को बताने से समाज में ईज्जत कम होती है। इसे वह अपना अपमान समझता था। सीताराम को बड़ा दुःख होता है। वह अन्दर ही अन्दर घुलने लगता है। वह नहीं चाहते हुए भी कुछ लोगों को अपना दुःख बताता है परन्तु निष्ठुर बणिये पर कोई असर नहीं होता है। बणिया लालों के बारे में साफ–साफ इन्कार कर देता है और कहता कि इस गरीब किसान के पास किसी ने लालें देखी थी? किसान के पास इसका कोई जवाब नहीं था।

अब रात–दिन सीताराम अपनी लालों को याद करता और उनके बारे में सोचता व पछताता कि पूर्वजों की निशानी को लेकर वह बणिये के पास नहीं जाता तो आज ये दिन नहीं देखने पड़ते। अब परलोक में अपने पूर्वजों को कैसे मुहँ दिखाऊँगा? इसी प्रकार की बातें सोच–सोच कर किसान सीताराम दुबला–पतला होता गया और बीमार होकर एक दिन दुनिया से चल बसा।

कहते हैं कि मरते समय कोई इच्छा मन में नहीं रखनी चाहिए। अगर मृत्यु के समय कोई इच्छा मन में शेष रह जाए तो उस जीवात्मा की मुक्ति नहीं होती है और वह आत्मा भटकती हुई किसी भयानक प्राणि के रूप में पुनः जन्म ले लेती है।

मृत्यु के समय सीताराम के मन में भी चार लालों की कामना थी जो पूरी नहीं हुई थी। अतः सीताराम मृत्यु–उपरान्त एक जहरीले सर्प के रूप में जन्म लेता है और बणिया अपनी हवेली के जिस तहखाने में उन लालों को छिपाता है, वहाँ जाकर रहने लगता है तथा उनकी रखवाली करने लग जाता है।

अब समय अपनी करवट लेता है। बणिये का व्यापार सुदूर प्रदेशों में बढ़ने लगता है। वह दिन–प्रति दिन और अधिक धनवान बनता चला जाता है। उसके चार लड़के थे। चारों ही रूपवान व गुणी थे। उसके व्यापार व धन का वैभव दूर–दूर तक फैलने लगा और उधर चारों लड़के भी दिन प्रति दिन जवानी की देहलीज पर दस्तक देने लगे। बणिये से व्यापार करने वाले लोग बणिये से कहने लगे की अब तो एक–एक कर लड़कों का विवाह करना चाहिए। लड़के जवान व विवाह योग्य हो गए हैं तो बणिये ने कुछ ही दिनों में अपने पहले लड़के का सम्बन्ध तय कर दिया व विवाह की तैयारियाँ जोर–शोर से होने लगी थी। सबसे धनी सेठ के लड़के का विवाह होने जा रहा था, इसलिए शादी भी ऐश्वर्यशाली थी। चारों ओर धन–वैभव की माया थी। बणिये के लड़के का विवाह हँसी–खुशी से हो गया तथा अब बारात बणिये की हवेली की ओर आने लगी। दूल्हा–दुल्हन रथ में सवार होकर आ रहे थे तथा हवेली पहुँचने वाले ही थे कि तहखाने में बैठा सर्प बाहर निकल कर चुपके से रथ में छिप जाता है तथा ज्यों ही दूल्हा रथ से नीचे उतरने के लिए अपना एक पैर नीचे करता है कि वह सर्प उसे डस लेता है और उसका प्राणान्त हो जाता है। सारी खुशियाँ शोक में बदल जाती हैं। जवान बेटे की असमय मृत्यु से बणिये को बेहद दुःख होता है। कई दिनों तक वह बेटे को याद कर–कर रोता रहा। समय बीतने पर बणिये का दुःख भी कम हुआ और वह अपना ध्यान पुनः व्यापार में लगा देता है। अब बणिये ने दूसरे बेटे का विवाह तय किया व धूम–धाम से शादी करता

है, परन्तु ज्यों ही दूल्हा दुल्हन के साथ हवेली पहुँचता है। वह सर्प पुनः रथ में छिप जाता है और ज्यों ही दूल्हा नीचे उतरने के लिए पैर बढ़ाता है और वह सर्प उसे डस लेता है और वह भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। बणिये के घर में शोक की लहर छा जाती है। जिसने भी सुना उसके मुख से हाय! हाय! ही निकला। गाँव में तरह-तरह की बातें भी होने लगी। मगर कोई क्या कर सकता था?

करीब दो–तीन वर्षों के बाद गाँव के बड़े बुजुर्ग लोग बणिये से कहने लगे कि दो बेटों की तो अकाल मृत्यु हो गयी परन्तु अब आपको तीसरे बेटे का विवाह करना चाहिए। वह विवाह योग्य हो गया है। बणिये के भी मन में पुत्र–वधु देखने की व पौते–पौती को खिलाने की इच्छा होने लगी तो उसने तीसरे बेटे का विवाह कर दिया परन्तु ज्योंहि दूल्हा–दुल्हन हवेली पहुँचते हैं, वह जहरीला सर्प पुनः चुपके से आता है और दूल्हे को रथ से उतरते ही डस लेता है और देखते ही देखते तीसरा लड़का भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। सेठ–सेठानी बहुत रोते हैं परन्तु होनी को कौन टाल सकता है? सारे गाँव में चर्चा होने लगी कि बणिये ने जरूर किसी गरीब को सताया है! यह उसी की बद्दुआ हो सकती है। इसीलिए उसे कष्ट मिल रहे हैं।

अब बणिये ने मन में यह सोच लिया कि चार बेटों में से तीन तो असमय ही काल कलवित हो गए परन्तु अब तो एक ही बेटा आँखों के सामने रहा है। उसका विवाह मैं नहीं करूँगा। अगर उसकी शादी कर दी तो तो शायद उसे भी सर्प डस कर मार सकता है। इसलिए बणिये ने अपने मन में यह तय कर लिया कि वह उसे कुँवारा ही रखेगा। शादी नहीं करूँगा तो आँखों के सामने तो रहेगा।

बणिये का चौथा लड़का तो दो–तीन वर्ष पूर्व ही विवाह योग्य हो गया था, परन्तु बणिये ने अपना प्रण सबको बता दिया था। बणिये पर आयी विपदा से सारे गाँव के लोगों में बणिये के प्रति सहानुभूति जागृत हुई थी परन्तु कोई क्या कर सकता था? बणिये का चौथा लड़का जवानी की कुलांचें भर रहा था। विवाह को लेकर किसके मन में उत्सव न हो! बणिये के लड़के के कई मित्र थे। उन सब की समय–समय पर शादियाँ हो चुकी थी। उनमें से कईयों के तो बच्चे भी हो चुके थे। वे सभी विवाह के आनन्द की बातें करते तो बणिये का लड़का मन मसोसकर रह जाता। ऐसा देख कुछ मित्रों व गाँव वालों ने सोचा कि अगर सेठ के लड़के का विवाह नहीं हुआ तो यह सब गाँव वालों की कमजोरी समझी जाएगी। क्या हम सब एक सर्प को नहीं मार सकते? हम सब लकड़ियाँ लेकर सावधान रहेंगे तथा सर्प को मार देंगे। ऐसी बातें गाँव के लोग करने लगे। एक बात और भी थी कि आज तक इस गाँव में एक भी कुँवारा नहीं मरा था। समय रहते सबके विवाह हो रहे थे। यह आस–पास के गाँवों में मिसाल थी। अगर बणिये का लड़का कुँवारा मरेगा तो गाँव की बदनामी होगी। अब लड़के का विवाह गाँव की प्रतिष्ठा का सवाल बन गया।

अतः गाँव के सभी लोगों ने यह तय किया कि बणिये के चौथे लड़के का विवाह होगा और हम सब उसकी सर्प से रक्षा करेंगे। बणिया नहीं माना, वह बार–बार मना करने लगा किन्तु गाँव की पंचायत के कहने पर वह इन्कार नहीं कर सका और चौथे लड़के का भी विवाह तय कर दिया। विवाह की तैयारियाँ होने लगी। बारात दुल्हन के घर पहुँची। फेरे होने से पहले दुल्हन पड़ौस के एक मंदिर में पूजा–अर्चना के लिए जाती है। मंदिर के कंगूरे पर एक कौआ बैठा था जो काँव–काँव करने के साथ ही कह रहा था कि विवाह के बाद जब बणिये का लड़का घर पहुँचेगा तो सर्प इसे डस लेगा और वह मर जाएगा। दुल्हन कोक शास्त्र में पारंगत थी इसलिए वह कौए की सारी बातें सुनकर एक बार तो घबरा गई परन्तु फिर हिम्मत कर उसने कौए की भाषा में कौए से पूछ लिया कि वह सर्प ऐसा क्यों करेगा तथा इससे कैसे बचा जा सकता है? दुल्हन को सारी बात समझ में आ गई और उसने तय किया कि रथ से पहले उसका पति नहीं बल्कि वह स्वयं उतरेगी जिससे सर्प डसेगा नहीं और उसके पति की जान बच जाएगी।

बणिये के चौथे लड़के का विवाह बड़ी धूम–धाम से हो गया तथा बारात गाँव में पहुँच गई। गाँव के लोग लकड़ियाँ लेकर सावधान हो गए तथा रथ के साथ–साथ चलने लगे तभी अचानक से सबकी आँखों से बचता हुआ सर्प रथ में छिप जाता है। हवेली में दूल्हा–दुल्हन के आने पर स्वागत की तैयारियां होने लगी और रथ से नीचे दूल्हा–दुल्हन को उतारा जाने लगा तभी दुल्हन ने अपने

पति को रोकते हुए कहा कि पहले आप नहीं उतरेंगे। पहले मैं उतरूंगी, रथ में सर्प आ बैठा है। अगर आप उतरेंगे तो सर्प आपको डस लेगा। इतनी बात सुनते ही दूल्हा तो घबरा गया, परन्तु दुल्हन हिम्मत कर रथ से नीचे उतरती है और अपने ससुर को पास बुलाकर कहती है कि आपके पास एक किसान की चार लालें हैं। वो लालें जल्दी से ले आईए नहीं तो यह सर्प इन्हें डस लेगा। पहले तो बणिया इन्कार करता रहा, परन्तु फिर कुछ याद करता हुआ जल्दी से तलघर में जाता है और चारों लालें लेकर दुल्हन को देता है। दुल्हन एक बर्तन में कच्चा दूध मँगवाती है और चारों लालें दूध में रख दी जाती है। तभी सर्प बाहर निकलता है और दूध के साथ तीन लालें निगल जाता है तथा फिर हवेली से दूर चला जाता है। सारे गाँव वालों को सर्प के रहस्य का ज्ञान होता है और बणिये को अपनी करनी का पछतावा।

सिक्का सच का चलता है

कैलाश 'सनातन' यादव

मन का मीत कितनों को मिला है, फिर भी जीवन चलता है
मन का गीत कितनों ने लिखा है, फिर भी गायन चलता है
जीवन तो मिलता है सबको,
कितनों ने जिया है जीवन? फिर भी जीवन चलता है।
जिसने समझी पीर पराई, उसकी दौलत सच्ची है
अरबपति अनगिनत हैं जग में, पर सिक्का सच का चलता है।
अच्छाई का अंत है अच्छा, ऐसा सुनते आए हैं
अच्छे और बुरे का अंतर आओ मिलकर ध्यान करें
सच को झूठ बताए जो, वही असत्य का धारी है
सच की रक्षा करने हेतु, सच कवच का धारण कर ले
वही सत्य का स्वामी है, हम सब उसका मान करे
भला बुरा मालूम है सबको फिर भी सब कुछ चलता है
अरबपति अनगिनत हैं जग में, पर सिक्का सच का चलता है।
प्राणवायु है भगवन जैसी, भक्त जैसे रक्त
भक्त गढ़ते भगवन को, भगवन रचते भक्त
ज्ञान और विज्ञान का, परिणाम है संघर्ष
अध्यात्म अंतिम सत्य है
श्रृँगार मानवमन का, मानवता का उत्कर्ष।
राजा रंक सभी है जग में, परमसत्य सुन लो जग वालो
जग, जनसाधारण से चलता है
अरबपति अनगिनत है जग में, पर सिक्का सच का चलता है।

हे मेरे स्त्रीत्व

वसुंधरा पाण्डेय

हे मेरे स्त्रीत्व
मेरे सृष्टि-कर्म
नवसृजन के मेरे अभिमान

आनंद की सार्थकता
सार्थकता के आनंद
मेरी मुक्ति मेरे ज्ञान

तुझे लिखते समय
जितनी भी
अनिर्वचनीय पुलक है
सब संजो लेना चाहती हूँ...!

२१वीं सदी में भी गांधी मार्ग

अरुण तिवारी

21वीं सदी की भारतीय चुनौतियां विविध हैं - घटती समरसता, घटती सहिष्णुता, बढ़ता भोग, बढ़ता लोभ, बढ़ते तनाव, बढ़ती राजतांत्रिक मानसिकता, बढ़ता आतंकवाद–नक्सलवाद और आर्थिक उदारवाद का नकाब पहनकर घुसपैठ कर चुका नवसाम्राज्यवाद! विकास और विनाश के बीच की धूमिल होती अंतर रेखा, अमीर और गरीब... दोनों की संख्या में बढ़ोतरी का भारतीय विरोधाभास, कमजोर पड़ती लोकनीति, हावी होती राजनीति तथा पानी, पर्यावरण, परिवेश, समय, संस्कार सब पर हावी होता अर्थतंत्र। इतनी सारी चुनौतियों के बीच 2020 तक भारत को दुनिया की महाशक्ति के रूप में देखने का दावा कितना सच है? मेरे ख्याल से तो यह 21वीं सदी के इस दूसरे दशक का सबसे बड़ा झूठ सिद्ध होने वाला है... खासकर यदि अस्मिता के भारतीय निशानों को बचाये रखते हुए इस दावे को पूरा करना हो।

जो अपने पास है, उसी में जीवनयापन की स्वावलंबी जीवन शैली, आयुर्वेद व योग आधारित स्वावलंबी चिकित्सा पद्धति, प्राणि मात्र के कल्याण को धर्म मानने वाला भारतीय अध्यात्म, 'वसुधैव कुटुंबकम' का भारतीय समाजशास्त्र, समग्र विकास की भारतीय अवधारणा और सदियों के अनुभवों पर जांचा–परखा भारतीय ज्ञानतंत्र – जब–जब भारत समग्र समृद्धि का प्रतीक राष्ट्र बनकर उभरा, उसकी नींव में यही मूल धारायें थी। इन्ही ने मिलकर भारतीय अस्मिता के निशानों का निर्माण किया। क्या ये धारायें आज कमजोर नहीं हुई हैं? गंगा और गंगा–जमुनी तहजीब... क्या भारतीय अस्मिता के ऐसे कई प्रखर निशानों को आज हमने खुद दांव पर नही लगा दिया है? गुरु–शिष्य, नारी–पुरुष, पिता–पुत्र, समाज–परिवार, प्रकृति और मानव... निजी तरक्की, भोग और लालच की दौड़ में क्या आज खुद हमने इन सभी रिश्तों को पिछवाड़े की खरपतवार समझ नहीं लिया है? यदि मैं यह कहूं कि हम में से कितने तो इन रिश्तों को विकास में बाधक तत्व की तरह देखते हैं, तो अचम्भा नहीं होना चाहिए। क्या नये तरह के आर्थिक विकास ने समग्र विकास के लिए जरूरी आधारभूत संसाधनों की भारतीय समृद्धि में कमी लाने का काम नहीं किया है? विचारणीय प्रश्न है। विचारिए!

आज हम खुद अपनी शिक्षा प्रणाली से संतुष्ट नहीं हैं। बुनियादी शिक्षा से अनभिज्ञ बढ़ती डिग्रियां एक ओर रोजगार के बुनियादी क्षेत्रों में मानवशक्ति की कमी का कारण बन रही हैं, तो अन्य क्षेत्रों में कोचिंग की दुकान और बेरोजगारी... दोनों को बढावा देने वाली साबित हो रही हैं। एक पीढी–दूसरी पीढी की संस्कारहीनता को कोस रही है। बूढे मां–बाप अपने ही बनाये घर से बाहर आशियाने की तलाश कर रहे हैं! विदेशी वालमार्ट की तरफदारी में देश का शासन शीर्ष शीर्षासन में खड़ा दिखाई दे रहा है।

लोग पानी की बीमारी से मर रहे हैं। राष्ट्र हथियारों के जखीरे के लिए बजट बढाने को विवश है। व्यवस्था व उसके संचालकों पर हमें यकीन नहीं रहा। व्यवस्था परिवर्तन के लिए हम आंदोलनो की मांग कर रहे हैं। आचरण में गिरावट व्यापक है। भ्रष्टाचार का कोई उपचार सुझाये नहीं सूझ रहा। गांधी के नाम पर जी रही संस्थाओं में ही गांधी चिंतन के आत्मप्रयोग को प्रतिष्ठित करने की लालसा नहीं रही। ऐसे में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि क्या गांधी मार्ग.. 21वीं सदी का मार्ग नहीं है?

बुनियादी शिक्षा, कुटीर उद्योग, स्वावलंबी जीवन, बापू के रचनात्मक कार्यक्रम, ईश्वर–अल्लाह तेरो नाम का सद्भाव संदेश, ग्रामस्वराज, हिंदस्वराज की अवधारणा, बापू के सपने का भारत, सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और शांति के बल पर दुनिया की सुरक्षा... क्या ये सभी विचार पुंज 21वीं सदी की चुनौतियों का समाधान नहीं हैं? मेरा मानना है कि समाधान ये ही हैं। यदि

ऐसा न होता, तो दुनिया की सर्वोच्च संस्था 'संयुक्त राष्ट्र महासभा' भारत जैसे राष्ट्र के राष्ट्रपिता के जन्म दिवस को 'अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस' के रूप में प्रतिवर्ष मनाने का फैसला न लेती। गांधी मार्ग पर चलने वाले नेल्सन मंडेला, आर्च बिशप डेसमंड टुटु और आंग सां सू की जैसे लोगों को आधुनिक विश्व के सवोच्च सम्मानों से सम्मानित न किया जाता। गांधी टोपी वाले अन्ना के आंदोलन के ज्वार में आधुनिक युवा एक नहीं होता। कोई कैसे नकार सकता है कि दलितों को अधिकार दिलाने के लिए बाबा साहेब अंबेडकर का सत्याग्रह, विनोबा का भूदान, जेपी की संपूर्ण क्रांति, महाराष्ट्र के महाद शहर का पानी सत्याग्रह, नासिक का धर्म सत्याग्रह, चिपको आंदोलन, टिहरी विरोध में सुंदरलाल बहुगुणा का हिमालय बचाओ, मेधा का नर्मदा बचाओ, राजेन्द्र सिंह का यमुना सत्याग्रह, म. प्र का जलसत्याग्रह, संत गोपालदास का गो अनशन, प्रो जी डी अग्रवाल और स्वामी निगमानंद के गंगा अनशन गांधी मार्ग पर चलकर ही चेतना और चुनौती का पर्याय बन सके।

दिलचस्प है कि 2014 की नई राजनीति भी गांधीवादी औजारों की राह चल पड़ी है। केजरीवाल के सत्ता में आने पूर्व के प्रयोग से लेकर संजय निरूपम के धरने तक। भ्रूण हत्या को अपराध मानने जैसे कानून, पुलिस जैसे विभाग में मानवाधिकार आयोग के अधिकार, सचूना का अधिकार, मनरेगा, खाद्य सुरक्षा, पेयजल सुरक्षा... जैसे तमाम कायदे–कानूनों के आधार गांधी मार्ग से भिन्न नहीं हैं।

मेरी समझ में राजनीतिक सत्ता अपने आप में साध्य नहीं है। वह जीवन के प्रत्येक विभाग में लोगों के लिए अपनी हालत सुधारने का साधन है।...राष्ट्रीय प्रतिनिधि यदि आत्मनियमन कर लें, तो फिर किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय ज्ञानपूर्ण अराजकता की स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक अपने में राजा होता है। वह ऐसे ढंग से अपने पर शासन करता है कि अपने पड़ोसियों के लिए कभी बाधक नहीं बनता। इसलिए आदर्श व्यवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि कोई राज्य नहीं होता। परंतु जीवन में आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नहीं बनती; इसीलिए थोरो ने कहा है कि जो सबसे कम शासन करे, वही सबसे उत्तम सरकार है। यहां सबसे कम का तात्पर्य सबसे कम समय न होकर, सरकार में जनता को शासित करने की मंशा का सबसे न्यून होना है। क्या गांधी के इस कथन में आपको जातिवादी राजनीति, बढती मसल पावर.. मनीपावर जैसी सबसे चिंतित करने वाली चुनौतियों को उत्तर देने की ताकत स्पष्ट दिखाई नहीं देती? मैं तो साफ देख रहा हूं कि गांधी के बुनियादी चिंतन को व्यवहार में उतारने मात्र से बलात्कार की उग्र होती प्रवृति से मुक्ति से लेकर वैश्विक नवसाम्राज्यवाद के पुराने चक्रव्यूह में फंस चुके भारत की आर्थिक आजादी तक स्वयंमेव सुरक्षित हो जायेगी। गांधी ने देश का बंटवारा होते हुए भी राष्ट्रीय कांग्रेस के जुटाये साधनों के जरिए हिंदुस्तान की आजादी मिलने के कारण कांग्रेस की उपयोगिता को खत्म मानते हुए कहा था – ''शहरों, कस्बों से भिन्न सात लाख गांवों वाली आबादी की दृष्टि से अभी हिंदुस्तान को सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है।'' इस आजादी को हासिल करने में कांग्रेस की भूमिका को परिभाषित करते हुए उन्होने तीन बातें कही थी –'लोकशाही के ध्येय की तरफ हिंदुस्तान की प्रगति के दरमियान फौजी सत्ता पर मुख्य सत्ता को प्रधानता देने की लड़ाई की अनिवार्यता; कांग्रेस को राजनैतिक पार्टियों और सांप्रदायिक संस्थाओं के साथ गंदी होड़ से बचना तथा कांग्रेस के तत्कालीन स्वरूप को तोड़कर सुझाये नये नियमों के मुताबिक लोक सेवा संघ के रूप में प्रकट होना।'

लोक सेवा संघ के लिए सुझाये नियमों को गौर से पढें, तो स्पष्ट हो जायेगा कि व्यवस्था परिवर्तन उपाय नहीं है। समस्या का समाधान व्यवस्था या राजनीति नहीं, पंचायतों तथा मोहल्ला समितियों के रूप में गठित बुनियादी लोक इकाई से लेकर हमारे निजी चरित्र में आई गिरावट में खोजने की जरूरत है। चरित्र निर्माण.. गांधी मार्ग का भी मूलाधार है और विवेकानंद द्वारा युवाशक्ति के आह्वान का भी। लोकतंत्र से बेहतर कोई तंत्र नहीं होता। सदाचारी होने पर यही नेता, अफसर और जनता... यही व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ में तब्दील हो जायेगे। माता–पिता और शिक्षक.. मूलतः इन तीन पर चरित्र निर्माण का दायित्व है। इन तीनों की उपेक्षा और दायित्वहीनता का ही

परिणाम है कि दुनिया को गांधी मार्ग बताने वाले भारत को आज खुद गांधी मार्ग को याद करने की जरूरत आन पड़ी है। जो व्यवहार खुद के साथ अच्छा लगे, वही दूसरे के साथ करें। यही है गांधी मार्ग। आइये! इसका आत्मप्रयोग शुरु करें। हो सके, तो बापू की पुण्य तिथि से ही। हे राम!

मानवता बच जाएगी।

छाया त्रिवेदी

सोलह जनवरी सीमा के अंतिम प्रहर की रात
कर गई विश्व के साथ घात
शांति वार्ता सिद्धांतों का अंत
रह गया केवल छल प्रपंच
विश्व बंधुत्व कुटुम्ब की भाषा
समझ न सकी अधिकार की अभिलाषा
"बंधुत्व"
जो विश्व में समाया था
अर्थहीन हो गया
युद्ध की विभीषिका में खो गया
फिर भी आशा है, एक दिलासा है
एक नन्हा बालक
ईश्वर के समक्ष
खड़ा है निष्पक्ष
प्रार्थना कर रहा
हे ईश्वर! यदि धरती पर एक भी धर्मात्मा वास करता है
तो विनाश रुक जाता है, टल जाता है
भारत भूमि में अनेक धर्मात्मा हैं
तो क्या युद्ध रुक जाएगा?
विश्व बच जायेगा?
विनाश टल जायेगा?
मानव बच जायेगा?
हे ईश्वर!
युद्ध केवल युद्ध है, विनाश लाता है
हारने वाला तो हारता है
जीतने वाला भी सब कुछ हार जाता है

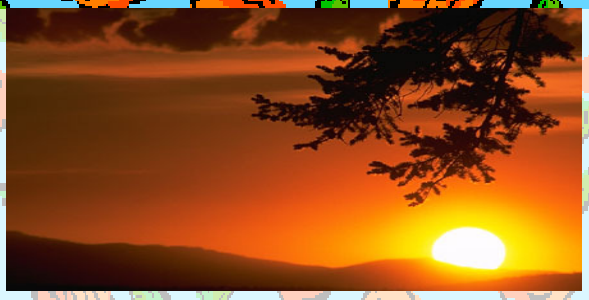

आ रही रवि की सवारी

हरिवंशराय बच्चन

आ रही रवि की सवारी

नव-किरण का रथ सजा है,
कलि-कुसुम से पथ सजा है,
बादलों-से अनुचरों ने स्वर्ण की पोशाक धारी।
आ रही रवि की सवारी।

विहग, बंदी और चारण,
गा रही है कीर्ति-गायन,
छोड़कर मैदान भागी, तारकों की फ़ौज सारी।
आ रही रवि की सवारी।

चाहता, उछलूँ विजय कह,
पर ठिठकता देखकर यह-
रात का राजा खड़ा है, राह में बनकर भिखारी।
आ रही रवि की सवारी।

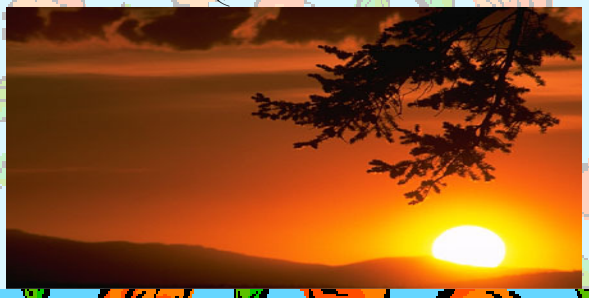

नारी-मन

स्नेह ठाकुर

मातृत्व की चाह किस स्त्री को नहीं होती। किलकारियों से गुंजित घर-आँगन किसे नहीं सुहाता। कुछ साल पहले तक शुचिता सोच भी नहीं सकती थी कि उसका इतना कायापलट हो जाएगा। शादी के पहले वह आधुनिका, 'कैरियर वोमन' थी। शादी होने तक, यहाँ तक कि उसके बाद भी कैरियर ही सर्वोपरि था। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया शुचिता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि कैरियर से ज़्यादा मातृत्व की भावना ज़ोर पकड़ती जा रही थी। और वह शुभ दिन भी आ गया जब उसके पैर भारी हुए, फिर कुछ महीनों में गोद भराई की रस्म हुई और उसके कुछ बाद बबुआ, खिलौना-सा नन्हा-मुन्ना ऋषि उसकी गोद में खेलने लगा।

शुचिता ने नौकरी से एक वर्ष का अवकाश ले लिया था जो कानूनन उसका हक़ था। पहले तो कैनडा में सिर्फ़ छः महीने का ही अवकाश दिया जाता था, पर अब साल का हो गया है। यह साल भी कब हवा के पंख लगाकर उड़ गया पता ही न चला।

काम करने वाली माँओं को संतान के जन्मोपरांत अपनी दूसरी पूर्णकालिक नौकरी पर जाना एक अभिशाप-सा क्यों लगता है, इसकी सच्चाई शुचिता को अब पता चली। जब अपनी चमड़ी पर सुई चुभती है तभी दर्द का एहसास होता है। दूसरे की भावना सिर्फ़ बात बन कर ही रह जाती है, अपने ऊपर गुज़री बात उस भावना का एहसास कराती हुई हृदय को अन्दर तक बेंधती चली जाती है। अब उसे भी ऋषि को छोड़ कर काम पर जाना अभिशाप-सा लगा। जिन माँओं की वह खिल्ली उड़ाती थी आज वह भी उसी मोड़ पर किंकर्त्तव्यंविमूढ़-सी खड़ी है। उसने कल्पना भी नहीं की थी कि उसे साल भर के ऋषि को छोड़ कर काम पर जाते हुए इतनी तकलीफ होगी। किसी तरह हाथ-पैर मारकर छः महीने की छुट्टी और ले ली।

डेढ़ साल तक जिस बच्चे की एक-एक हरक़त की वह गवाह है, जो उसकी हर अदा पर कुर्बान हो जाती है, उसके हर प्रयासों का क्षण, लेखा-जोखा स्मृति पर न छोड़ डायरी के पन्नों में लिखकर भी संतुष्ट नहीं होती वरन् उसके साथ ही डिजीटल कैमरे में विभिन्न कोणों से ली गई उसकी अनगिनत इमेजेज़ भर लेती है, उसी ऋषि को उसे अब प्रतिदिन आठ-दस घंटे किसी और को पालने के लिए सौंपना पड़ेगा। अन्याय, घोर अन्याय; अन्याय नहीं तो और क्या? पर नौकरी तो करनी ही पड़ेगी; और इस 'पर' की कील पर त्रिशंकु-सा लटका मन। हृदय हाहाकार कर उठता है। चाहे आप आया रखें, दादी-नानी के पास छोड़ें, शिशु-सदन में भर्ती करें, हक़ीकत तो यही है कि अगर नौकरी करनी है तो छोड़ना तो पड़ेगा ही। इसे चाहे आधुनिकता की दौड़ कह लीजिए या आज के युग की जरूरत या फिर शिक्षित नारी वर्ग के अहं की तुष्टि, कि इतना पढ़-लिख कर अगर चूल्हा ही झोंकना-धौंकना था तो फिर पढ़ने की क्या जरूरत थी जैसे कि शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ़ नौकरी-पेशा ही है, न कि उस शिक्षा से जागृत हो स्वयं की, परिवार की व समाज की उन्नति करना है। बच्चे समाज के आधार-स्तम्भ हैं, राष्ट्र के भविष्य निर्माता हैं। क्या माँ के ममत्व व संरक्षण बिना नाज़ुक फूलों-सी, प्यारी-प्यारी तितलियों-सी बेटियाँ विश्व की आदर्श गरिमामयी नारियाँ बन पाएँगीं? क्या माँ के पवित्र संस्कारों की घुट्टी के बिना पुत्र अच्छे मानव, आदर्श पुरुष का धर्म निभा सकेंगे? कहीं माँ के ममता-पगे सान्निध्य के अभाव में इस जेनेरेशन के बच्चे हृदयशून्य तो नहीं बन जाएँगे; रूखे, नीरस, प्रेमरहित एक मशीन बन कर? इसके लिए क्या सिर्फ़ इस युग के बच्चे ही जिम्मेदार होंगे जो रेगिस्तानी 'कैक्टस' की तरह पल रहे हैं, जिनकी जड़ों के नीचे धरती की मिट्टी सूखती चली जा रही है; जो माँ के प्रेमरस से सिंचित न हो ऊसर धरती पर उग रहे हैं। क्या आधुनिकता की माँग माँओं के लिए अभिशाप है? अनेक प्रश्न सर्प की तरह सिर उठा फुँफकार रहे थे।

नारी यह भूल जाती है कि मातृत्व की भावना नैसर्गिक, स्त्रियोचित् गुण है और उस स्थिति में पहुँचने पर मातृत्व वरदान व नौकरी अभिशाप लगने लगती है। पर यदि मातृत्व व नौकरी दोनों ही चाहिए तो सामन्जस्य तो बैठाना ही पड़ेगा। दोनों हाथों में लड्डू सम्भव नहीं हैं; कम से कम आत्म-वंचना व आत्मश्लाघा के बिना तो दोनों हाथों में लड्डू सम्भव हैं हीं नहीं।

शुचिता भी ऐसी ही स्थिति के मकड़ी-जाल में फँसी हुई थी। कभी ऋषि की हाफ-पैंट पकड़ती, कभी जीन्स पकड़े भँवर में डूब-उतरा रही थी। आकाश में बादलों के झुरमुट लुकाछुपी खेल रहे थे; खरगोश, हिरन, हाथी दौड़ रहे थे। मौसम का अंदाज़ लगाने में शुचिता अपने को असमर्थ पा रही थी। हालाँकि वह ऐसी बेवक़ूफ़ भी नहीं है कि इतना न समझ सके, पर बात दरअसल यहाँ बेवक़ूफी या अक्लमंदी की नहीं है, वरन् बात है भावना की झील में डुबकी लगाने की। आज वह पहली बार ऋषि को शिशु-सदन में ले जा रही है ---- न नौकरी छोड़ी जा रही है, न बच्चा। साँप छछूँदर की स्थिति ---- न निगला जा रहा है न उगला।

जी कड़ा करके शुचिता ने पास ही खाली डायपर पहने बैठे, कारों के साथ खेलते ऋषि को कपड़े पहनाना शुरू किया। पिछली रात तैयार किया हुआ अतिरिक्त डायपर, कपड़ों आदि का बैग पकड़ा और चल दी शिशु-सदन की ओर। रास्ते भर शुचिता उत्साह-भरी आवाज़ में ऋषि से बतियाती रही कि उसे शिशु-सदन में बड़ा अच्छा लगेगा, खेलने के लिए नये दोस्त मिलेंगे पर साथ ही साथ मन ही मन प्रार्थना कर रही थी कि ऋषि उसकी आवाज़ में किसी प्रकार का कंपन न भाँप पाये। बच्चे दूसरों के मनोभावों को बड़ी जल्दी ताड़ जाते हैं। कार के साथ-साथ चिन्ता चलती रही। ग़नीमत है कि मन ही मन कही बात कोई सुन नहीं पाता।

अभी तक ऋषि महोदय को आभास भी न था कि उनकी ज़िन्दगी में एक महत्वपूर्ण पड़ाव आने वाला है।

शिशु-सदन की रिसेप्शनिस्ट ने मैत्रीपूर्वक स्वागत करते हुए जूनियर-रूम का मार्ग दिखा दिया। शुचिता के घुटने, ऋषि व बैग के भार से ज़्यादा, भावना से थरथराये।

कमरे में छोटी-छोटी, प्यारी-प्यारी दस जोड़ी आँखें शुचिता व ऋषि की ओर ताकने लगीं। मासूमियत भरे चेहरों पर उत्सुकता, निरीहता, निर्लिप्तता, उदासीनता, बहुत कुछ था। रीटा ने अपनी कहानी के शिकंजे की पकड़ कम होते देख, मुड़ कर बच्चों की नज़र की दिशा में नज़र घुमाई। माँ-बेटे को खड़ा देख, शुचिता व ऋषि का स्वागत करते हुए बच्चों को उनसे हैलो करने के लिए कहा।

दसों मुँह से एक ही साथ बचकाना, खिलखिलाता मधुर स्वर का झरना फूटा ---- हा---- य। ऋषि ने निर्निमेष देखा फिर आँखें झपकाईं और शर्माकर अपना नासमझ चेहरा शुचिता के कंधे में छुपा लिया।

परिचय के बाद शुचिता ने धीरे-से और फिर ताकत से अपनी गर्दन से ऋषि की बाँहें हटाईं व उसे अपने पास कालीन पर बैठा लिया। शुचिता जान-बूझ कर उन खिलौनों के पास बैठी जो उसके विचार से ऋषि को पसंद आएँगे।

एक प्यारी परी-सी, दूधिया फ्राक में लिपटी, बालों की पोनी टेल में लाल रंग का रिबन बाँधे छोटी बच्ची आशा मटकती-सी मद-मस्त चाल से उनके पास आई। उसके बालों का अंतिम छोर उसकी चाल के लय में घुल कभी दाएँ तो कभी बायें उसकी गर्दन से ज़रा-सा उचक कर कुछ ढ़ीठता से, पर साथ ही हल्के से उसके कपोलों का चुम्बन ले लेता था। आशा ऋषि की तरफ मैत्री का हाथ बढ़ाने के लिए आई थी। भोली-भाली बच्ची ने शब्दों की आवश्यकता को दरकिनार कर उपहार-स्वरूप कार वाला हाथ ऋषि की तरफ बढ़ा दिया। शब्द-जाल की महत्ता के जाल में उलझने की न तो इस नन्ही-सी बच्ची के मस्तिष्क के ताने-बानों में क्षमता थी और न ही इस उम्र में ऋषि पर उसका कोई प्रभाव पड़े ऐसी कोई संभावना ही थी। शब्दों के चक्रव्यूह दोनों ही के लिए अनावश्यक थे। पर भावभंगी सद्भावना प्रकाशनार्थ उपहार के इस जेस्चर का भी ऋषि महाशय पर उल्टा ही असर हुआ और वो भों-भों कर दहाड़ते हुए शुचिता के अंक में समा गए।

एक दूसरी उर्वशी-सी शिक्षिका ऋचा बड़ी सौम्यता से उनके पास आकर अपना परिचय देने लगी। ऋषि ने उसे ऐसे देखा जैसे वह डायन-चुड़ैल हो। वो तो शुचिता का हाथ पकड़े उसके अंक में बर्फ-से जम गये। ऋचा मधु-मिश्रित आवाज़ में बोली, 'चिन्ता न करें, कुछ बच्चों को समय लगता है।'

इस बीच बच्चों का बाहर खेलने का समय हो गया था। वहाँ बड़ा-सा सैंड-बाक्स, ट्रायसिकल, पुश-कार्ट आदि की व्यवस्था थी। इधर रीटा ने 'बबल-मशीन' से बबल के बगूले उड़ाने शुरू किये उधर बच्चे हँसते-खिलखिलाते, लड़खड़ाते उन्हें पकड़ने के लिए दौड़े। अचानक दो-ढ़ाई साल के गोल-मटोल बबुआ-से चेहरे पर लटकती सुनहरी घुँघराली लटों वाले माईकल दहाड़ मार कर रोने

लगे। उसके सुरीले कंठ से एक फटे बाँस-सी भयंकर आवाज़ निकली ---- 'मम्मी, मम्मी कहाँ है?' छोटी-छोटी आँखों से अनार जैसे लाल-लाल गालों पर मोती टपकने लगे। ऋचा ने दौड़ कर उसे अंक में समा लिया, फिर चेहरा उठा आँसू पोंछते हुये बोली, 'घबराओ नहीं, मम्मी थोड़ी देर में आ जायेगी। मम्मी नौकरी पर गई है।'

शुचिता के दिलो-दिमाग में भी अपराध-भावना के डंक चुभने लगे। उसका ज़हर नसों में बिफरने लगा। क्या वह नौकरी छोड़ कर घर बैठे? उस दिन वह ज्यादा देर न रुक सकी। ऋषि को ले कर वापिस घर आ गई।

दूसरे दिन ढ़ाई बजे पहुँचने का प्रोग्राम था। पर लंच के बाद माँ-बेटे दोनों की आँख लग गई। शुचिता की जब आँख खुली तब दो बज चुके थे। खिड़की से आती धूप कमरे में प्रवेश कर फर्श पर पसर गई थी। सोता हुआ मासूम ऋषि देवदूत-सा लग रहा था। एक बार तो शुचिता के मन में आया कि दोनों घर ही रह जायें। शिशु-सदन जाना वध-भूमि में प्रवेश करने जैसा लगा। फिर सोचा कि ऐसे कब तक चलेगा। शिशु-सदन की आदत तो डालनी ही पड़ेगी। संतान यदि माँ-बाप का साथ नहीं पा रही है तो क्या किया जाये? इसी 'साथ' के बदले में ही तो कमाई कर रहे हैं। संतानों के इसी तथाकथित 'साथ' के अभाव की पूर्ति के लिए ही तो माँ-बाप उन्हें ढ़ेर सारा सामान देते हैं। माएँ नौकरी न करें तो क्या ये ढ़ेर सारी चीज़ें, यह ऐशो-आराम वो अपनी संतानों को दे सकेंगी? मन और मस्तिष्क अन्तर्द्वन्द्व के अखाड़े में कुश्ती लड़ते रहे। कभी मन मस्तिष्क को पछाड़ता और कभी मस्तिष्क मन को। ऊँट कभी इस करवट बैठता कभी उस। तर्क के तराज़ू के पलड़ों का झुकाव दोनों ही भावनाओं के आवेगों पर इधर-उधर डोल रहा था।

आखिरकार मस्तिष्क के विचारों ने मन की भावनाओं पर विजय पाई। शुचिता ने सोते हुए ऋषि को तैयार करना शुरू कर दिया जो जागे हुये चीखते-चिल्लाते, पैर पटकते, धक्का-मुक्की कुश्ती करते ऋषि की अपेक्षा कहीं ज्यादा आसान था।

तीन बजे पहुँचने पर शुचिता ने माफी माँगी पर रीटा व ऋचा ने उसे सान्त्वना दे, हँस कर उनका स्वागत किया। ऋषि की पसंद का नाश्ता ---- मक्खन लगी किशमिशी डबलरोटी का टुकड़ा, केला व संतरे का रस --देख शुचिता ने मन ही मन भगवान को धन्यवाद दिया। उसने ऋषि को बच्चों वाली छोटी मेज-कुर्सी पर बैठा दिया। ऋषि ने नाश्ते को ऐसा भकोसना शुरू किया जैसे वह जनम-जनम का भूखा हो। रीटा ने उसे और खाने को दिया। शुचिता शर्म से गड़ गई, अपने को दोषी मान जैसे कि वो बच्चे को ठीक से खाना न देती हो। हालाँकि कई बार ऐसा होता है कि बच्चों को दूसरों का खाना ज्यादा पसंद आता है। खिलौनों की बाबत तो यह बात पूर्णरूपेण, शत-प्रतिशत सच्ची है कि बच्चों को दूसरों के खिलौने ज्यादा पसंद आते हैं। हर बच्चे को वही खिलौना चाहिये जो सामने वाले बच्चे के पास है।

खाने के बाद बच्चे खिलौनों की तरफ लपके ही थे कि ऋचा ने 'ट्विंकल ट्विंकल लिटिल स्टार' गाने का टेप लगा दिया। बच्चे कूँद-फाँद मटक कर नृत्य का स्वाँग रचने लगे पर ऋषि बाबा गोंद की तरह शुचिता से चिपक गए। शुचिता को ऋषि में अपना बचपन झाँकता नज़र आया। वो उसे अपनी कार्बन-कॉपी लगा। स्वाभाव से शांत, गुपचुप देखने वाला, नये व्यक्तियों के सामने देर से खुलने वाला। अनायास ही शुचिता के मुँह से निकल गया कि उसे नहीं लगता कि कल से ऋषि शिशु-सदन में योजनानुसार पूरी सुबह अकेला बिता पाएगा। ऋषि बहुत शर्मीला है, परिवार से जुड़ा है, इसलिए मैं कुछ दिन और आना चाहती हूँ। शायद अगले हफ्ते---या उससे अगले हफ्ते---

रीटा ने ऐसी बातें पहले भी कई बार सुनी थीं। हँसकर बोली, 'शुचिता मैं तुम्हारी भावना समझ रही हूँ, पर मुश्किल यह है कि जितना ज्यादा तुम यहाँ रहोगी उतना ही ऋषि शिशु-सदन को तुमसे जोड़ेगा और स्वयं को शिक्षकों से नहीं जोड़ पाएगा। ऐसा करो एक-दो दिन और आ जाओ पर सोमवार की सुबह उसे यहाँ छोड़ कर आध-पौन घंटे के लिए पास वाले रेस्तराँ में समय बिता कर यह देखने के लिए वापिस आ जाओ कि ऋषि तुम्हारे बिना कैसे रह रहा है।'

आज पहली बार ऋषि ऋचा का हाथ पकड़ कर सैंड-बाक्स की तरफ बढ़ चला और पन्द्रह मिनट तक मज़े में खेलता रहा। शुचिता के हृदय में जहाँ एक ओर चैन की लहर उठी वहीं दूसरी ओर वेदना की कसक लहरा उठी, 'शायद अब उसे मेरी आवश्यकता नहीं रह गई है।' मानव मन कैसा विचित्र है - जिस प्राप्य की आकांक्षा में ज़मीन आसमान एक किया जाता है वही प्राप्त होने पर तुच्छ

क्यों लगता है, पीड़ा की अनुभूति क्यों देता है? पर उसी पल पलटकर ऋषि दोनों बाँहे पसारे मम्मा पुकार उठा।

ऋषि का शर्मीलापन खत्म हो रहा था। आमने-सामने छोटी-सी मेज़ के आगे छोटी-सी कुर्सी पर बैठी माँ को देख वह समझने लगा था कि यह जगह माँ-बेटे दोनों के लिए है। देखा जाये तो शुचिता भी कुछ ऐसे ही विचारों से गुज़र रही थी पर उसे यह महसूस करते भी देर न लगी कि ऐसा नहीं हो सकता है। शिशु-सदन आने का उद्देश्य ही ऋषि को तथाकथित समय के लिए छोड़ना है।

आखिर सोमवार आ ही गया। आना ही था। समय किसके लिए रुकता है। चलती घड़ी की सुई का धर्म आगे ही आगे बढ़ना है। ऋषि आगे की परिस्थिति से अनजान खुशी-खुशी स्कूल पहँचे थे। आज बाहर का तापमान खुशगुवार था, न ज़्यादा गरम न ज़्यादा ठंडा। कुनकुनी धूप। बच्चों को बाहर ले जाने की तैयारियाँ हो रहीं थीं। कुछ बच्चों को स्ट्रोलर पर बैठाया गया, कुछ ऊँगली पकड़ कर चलने वाले थे। ऋषि को जब सीट पर बैठाया गया तो वो कुछ छटपटाने-से लगे, शायद उन्हें विश्वासघात की बू आ गई थी। शुचिता ने उनके ढ़ेर सारे चुम्मे लिए, उन्हें जूस की बोतल पकड़ाई, साथ में चूसनी भी पकड़ा दी और फिर प्यार भरे लहज़े में कहा कि वो लंच में आकर उसे वापिस ले जाएगी। बड़े सोचते हैं कि वो बच्चों को मूर्ख बना लेंगे पर वास्तव में छोटे से छोटा बच्चा भी अपना नफ़ा-नुकसान समझता है। अतः ऋषि साहब किसी भुलावे में नहीं आए और फटे बाँस की तरह गला फाड़ कर रोने-चिल्लाने लगे।

शुचिता न चाहते हुए भी अपना सेल-फोन-नम्बर देकर योजनानुसार बाहर के दरवाज़े की ओर बढ़ती गई। ऋषि की चीखें उसके पाँव की बेड़ियाँ बन उसे आगे बढ़ने से रोक रही थीं। किसी तरह पैर घिसटती-घिसटती वह कार तक पहुँची और धम्म से कार में बैठ सुबकने लगी। वयस्क होने के नाते चाहते हुए भी वह ऋषि की तरह दहाड़ मार कर रो न सकी। आँखों से बूँद-बूँद आँसू बहने लगे, पहले गरम, फिर धीरे-धीरे बह कर ठंडे होते आँसू। क्या मैं यह उचित कर रही हूँ, का प्रश्न, उत्तर की प्रतीक्षा में एक धारदार छुरी की नोंक से सारे परिवेश को घायल कर आर्त्तनाद करता वहीं गिर कर बिखर गया।

लंच के वक्त जब शुचिता वापिस आई तो बाहर से ही उसका दिल धौंकनी की तरह ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। न जाने ऋषि किस हालत में हो! उसने डरते-डरते दरवाज़ा खोला। सामने कालीन पर ऋषि, बीच-बीच में हल्की-हल्की ध्वनि में सुबकुते, थोड़े-थोड़े अंतराल पर हिचकियों के हिचकोलों में झूलते, रिरियाते से बैठे कहानी सुन रहे थे। चेहरा रोते-रोते लाल हो गया था। आँखें सूज गईं थीं। लगता था कि आँखों ने काफी गंगा जमुना बहाई है। आँख और नाक के पानी की धाराएँ एकाकार हो सूखी लकीरों में बदल गईं थीं जैसे कोई बड़ी नदी सूखते-सूखते, यत्र-तत्र क्षीण-सी धारा में परिवर्तित हो, यहाँ-वहाँ अपने अस्तित्व की सूखी दरारों के निशान छोड़ जाती है। शुचिता के मन में प्रश्न उठा कि क्या इतनी जल्दी चेहरे में परिवर्तन आ सकता है! यह तो ऐसा लगता है जैसे फूल से भरे बगीचे पर हिमपात, शिलावृष्टि हो गई हो। संतान के मगरमच्छ के आँसू ही आपको धराशायी कर देते हैं, ये तो असली आँसू थे।

शुचिता थोड़ा पास आकर भरे गले से धीरे से बोली, 'हैलो राजा बेटा।' ऋषि ने अपना चेहरा उठाया और शुचिता को देखते ही तुरंत रोना शुरू कर दिया। कँपकँपाती टाँगों पर कँपकँपाते-से खड़े हो शुचिता के अंक में समाने की चेष्टा कुछ ऐसी थी जैसे गिरते-पड़ते अंततोगत्वा किसी सुरक्षित दुर्ग के घेरे के अन्दर पहुँच गये हों। शरीर का विलम्बित कंपन जारी था। मुँह पर सान्त्वना, सुरक्षा और संतोष की भावनाओं के साथ ही साथ रोष की भावना भी झलक रही थी।

शुचिता ने दिमाग में केंचुओं की तरह घुसते, जोंक की तरह चिपकते, हर दुखदायी विचारों को दम-भर जोर लगा बड़ी कठिनाई से बाहर धकेलते हुए, वाणी को अदृश्य चाबुक की मार पर संयत कर, ऋषि को गले लगा वात्सल्य-भरे स्वर में सम्बोधित करते कहा, 'बेटा, मुझे तुम पर गर्व है। तुम तो बड़े अच्छे बच्चे हो।' ऋषि क्या समझे और क्या नहीं, यह तो वही जानें, पर माँ को सामने देख कर संतुष्ट जरूर हुए और ऐसे चिपके जैसे छुटका बंदर अपनी माँ की छाती से चिपक जाता है। अलग करो तो जाने, किसकी हिम्मत है आगे बढ़ कर अलग करने की का भाव मुख पर ओढ़े हुये। कहावत सही है, सुरक्षित स्थान पा कर बिल्ली भी शेर बन जाती है। निरीह-से दिखने वाले बच्चे समय पर बड़े-बड़ों के कान काट लेते हैं, उनको अपनी ऊँगली पर नचाने की क्षमता रखते हैं। इतिहास साक्षी है

कि कृष्ण के भोले-भाले बाल-रूप ने न जाने कितनों को नचाया है। शुचिता पर भी प्रभाव पड़ा। पड़ता कैसे नहीं! प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। पर ---- और इसी 'पर' की खूँटी पर पुनः शुचिता का द्विविधा से भरा मन त्रिशंकु-सा अनिश्चय के अधर में झूलने लगा।

दिन कहाँ रुकते हैं, इसीलिए बीतते जा रहे हैं। दीवार पर टँगे कैलेन्डर ने घोषित कर ही दिया कि दो हफ्ते गुज़र गये हैं। हालाँकि दीवार पर टँगा कैलेन्डर हवा के सहयोग से अपने पन्ने फड़फड़ा यह घोषित न भी करता तो भी क्या पता न चलता! शुचिता तो वयस्क है, उसे समय का बोध है। वह खाली दीवार के कैलेन्डर पर ही आश्रित नहीं है। और ऋषि अबोध होते हुये भी इस बीच यह तो अच्छी तरह समझने लगे थे कि यह आने-जाने का कार्यक्रम अब रोज़ का मामला बनता जा रहा है। बच्चे मूर्ख नहीं होते। वो स्वयं के विषय में काफी चालाक होते हैं। अतः अब जैसे ही शुचिता स्कूल पहुँच ऋषि को कार से उतार उसके सामान का बैग पकड़ने के लिए कार में हाथ बढ़ाती, ऋषि महाशय ढ़ीली छूट पाते ही अपनी दो कमलककड़ी के नाल जैसी टाँगों पर, शिशु-सदन के प्रमुख द्वार की विपरीत दिशा में अपनी पूरी ताकत लगा डगमगाते हुए भाग खड़े होते। कभी-कभी तो सैंडिल-जूता ही उतर जाता पर फिर भी वो न रुकते। ठीक भी है। जूते की चिन्ता करें या पीछा छुड़ाने की, जान बचाने की। जान बचाने के चक्कर में तो बड़े-बड़े जूते की चिन्ता नहीं करते फिर यह तो नन्हा-मुन्ना अबोध बालक है। इसे तो जूता वैसे ही पैर को कसने वाला, जकड़ने वाला लगता है। इस बंधन से मुक्ति भली। पर कहाँ तक भाग पाते। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। और फिर यह तो छोटा-सा नन्हा-मुन्ना है। वयस्क की पकड़ के शिकंजे से कब तक बचता। शुचिता उसके पीछे दौड़ती और उसे पकड़ लेती। ऋषि उसकी बाँहों में तिलमिलाते, छटपटाते, शिकंजे से छूटने की कोशिश करते और शुचिता उसे सान्त्वना देते हुए, समझाते हुए फुसलाती कि आज बेटा तुम लोग पार्क जाओगे, पिकनिक करोगे, बड़ा मज़ा आएगा पर बच्चे का तो सारा मज़ा माँ की गोद में ही निहित होता है। ऋषि कोई मूर्ख तो हैं नहीं, अतः वो ऐसी ज़ोर से चिल्लाने लगते जैसे उन्हें बंदी बनाकर कारावास के लिए ले जाया जा रहा हो।

आखिरकार आज से ऋषि अब पूरे दिन रहने वाले हैं। किसी तरह शुचिता सामान से लदी-फदी उन्हें लेकर कक्षा तक पहुँचती हैं। कक्षा से बच्चों की आवाज़ें ऐसे आ रही हैं जैसे छोटे-छोटे मेमने मिमिया रहे हों। ऋषि एकदम शांत हो चूसनी चूसने लगते हैं, साथ ही तिरस्कारी आँखों से शिक्षिकाओं को घूरने लगते हैं। रीटा व ऋचा उसकी इस हरकत को नज़रअंदाज़ कर मुस्कुरा कर उससे बोलीं, 'बड़ा अच्छा हुआ कि तुम आ गए। चलो खिलौनों के साथ खेलते हैं।' और शुचिता की बाँहों से चीखते-चिल्लाते ऋषि को खींचने का प्रयास करने लगीं। शुचिता को लगा कि ऋषि की दोनों आँखें, भट्टी में गरम की गई लाल-लाल सलाखों की तरह उसके मन को भीतर तक जलाती जा रही हैं, बर्छी-सी बींधती अंदर ही अंदर घुसी जा रही हैं। फिर छिड़ गई मन और मस्तिष्क की तनातनी। मस्तिष्क के कोड़ों के प्रहार ने मन की कोमल भावनाओं को लहुलुहान कर स्वयं को विजयी बना लिया। तीन वयस्कों के बीच नन्हे-से ऋषि की क्या चलती। बलवान का कुछ बिगाड़ सके यह क्षमता दुर्बल में कहाँ? वह तो नन्हा-सा अबोध बालक है। इस दुनियाँ में बच्चों की बात कौन सुनता है? उनका दुख, उनकी तकलीफ़, उनकी मानसिक यातना किसी की समझ में नहीं आती है। अगर आती भी है तो उसे मज़बूरी का जामा पहना दिया जाता है। ऊपर से अपनी गिल्ट कम करने के लिए उस पर यह तुर्रा चढ़ा दिया जाता है कि आखिर यह सब हम अपने लिए थोड़े ही कर रहे हैं। अरे बच्चों के लिए ही तो पैसा कमा रहे हैं, उन्हीं की भलाई के लिए, उनके ऐशो-आराम के लिए ही तो हम मर-खप रहे हैं। इस तर्क की सीढ़ी का सहारा हर परिस्थिति में वैतरणी पार करा देता है।

पर माँ का दिल माँ का दिल है। कितना भी कड़ा करो, बच्चे को रोता-बिलबिलाता नहीं देख पाता। शुचिता भी वहाँ खड़ी न रह सकी। लम्बे-लम्बे डग भरती दरवाज़े के उस पार चली गई। पर वहाँ से आगे न जा सकी। लगा कि किसी ने उसके दोनों पैरों में कीलें ठोंक दी हैं। उसे एक स्टिल फोटो में परिवर्तित कर दिया है। सहसा शुचिता के सामने सारा माहौल एक धुएँ की चादर से ढ़ँकता चला गया। उसे लगा कि उसके पैरों के नीचे की धरती फटती जा रही है और वह सीता की तरह अपने लव,कुश को छोड़ धरती में समाती जा रही है। एक गहरी खाई में धँसती जा रही है। पूरे चार मिनट तक शुचिता के कानों से ऋषि की मर्मभेदी चीखें टकराती रहीं। चार मिनट चार युग से लगे। पर यह क्या! अब जब सब कुछ शांत है, तो यह शांति क्यों अखर रही है? यह कैसी विडम्बना

है कि जो चींख उसके कानों में गरम शीशा उड़ेल रही थी, उसी चींख के शांत होने पर मन में शांति क्यों नहीं? क्यों शुचिता का मन हुलक-हुलक कर रोने को कर रहा है? कारण? कारण बस इतना ही है कि, हथौड़े की तरह इस सोच, इस भावना ने उसके हृदय पर कुठाराघात कर प्रहार पर प्रहार किया है कि अब ऋषि को उसकी ज़रूरत नहीं रह गई है। आधुनिका नारी की यह कैसी विवशता है कि ना तो संतान को अपने आँचल के साये तले रख पाने में समर्थ है, और ना ही उससे आँचल छुड़ाने में।

माँ

दिव्या माथुर

उसकी सस्ती धोती में लिपट
मैंने न जाने
कितने हसीन सपने देखे हैं
उसके खुरदरे हाथ
मेरी शिकनें सँवार देते हैं
मेरे पड़ाव हैं
उसकी दमे से फूली साँसें
ठाँव हैं
कमज़ोर दो उसकी बाँहें
उसकी झुर्रियों में छिपी हैं
मेरी खुशियाँ
और बिवाइयों में
मेरा भविष्य।

गाँधी होने का अर्थ

भारत यायावर

आज जब सांप्रदायिकता अनेक रूपों में अपना वीभत्स प्रदर्शन कर रही है, आतंकवाद पूरी दुनिया में निरर्थक हत्याएँ कर रहा है, साम्राज्यवाद अपने नए लिबास 'बाजारवाद' के रूप में दुनिया में अपना मायाजाल फैला रहा है; ऐसे में गाँधी की याद सबसे अधिक आती है। गाँधी जीवन भर सांप्रदायिक सौहार्द्र के लिए संघर्ष करते रहे - हिंदू-मुस्लिम एकता को मजबूती प्रदान करते रहे। सबके दिलों में प्रेम हो, भाईचारे का संबंध हो, हिंसा मानवता के लिए कलंक है, उसे कभी धारण नहीं करना चाहिए - इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गाँधी का पूरा जीवन समर्पित रहा। घृणा-विद्वेष से भरे हुए माहौल में प्रेम की ज्योति लेकर चलने वाला मानवता का यह योद्धा बुद्ध, ईसा और कबीर से शक्ति लेकर आगे बढ़ रहा था। कबीर का यह दोहा वे बार-बार दुहराते थे - 'कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहि। सीस उतारे भुँइ धरै, सो पैठे घर माहि।' उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित करके इस प्रेम, अहिंसा और सत्य के घर में प्रवेश किया था। प्रेम से दीप्त आत्मा लिए उन्होंने सत्य के अनेक प्रयोग किए थे। उन्होंने भारतीय जनता में सिर्फ आत्म-विश्वास ही नहीं भरा था, अपितु आत्म-दृढ़ता और आत्म-निर्भरता पैदा कर स्वाधीनता के पथ पर चलना सिखाया था। क्योंकि वे जानते थे कि किसी भी आंदोलन के लिए आत्म-दृढ़ता और आत्म-विश्वास बराबर की शक्ति रखते हैं। वे मानते थे कि जब प्रत्येक व्यक्ति में आत्म-विश्वास स्थिर हो जाएगा तो व्यक्ति उन्नति करेगा और उसके साथ समाज भी। और आत्म-बल तथा आत्म-विश्वास तभी आ सकता है, जब हम सत्य के तद्रूप हो जाएँ - व्यर्थ और असत्य विचारों का परित्याग कर आत्मा को ऊँचा करें। हृदय और आत्मा की विशालता सर्पोपरि है, शरीर एवं वैभव की विशालता क्षणिक है। गाँधी ने विवेकानंद की तरह आत्मोन्नति के साथ ही सामाजिक या दीन-दुखियों की सेवा, ग्रामोन्नति एवं आत्म-शुद्धि पर जोर दिया। गाँधी ने 'अनासक्तयोग' नाम से गीता का भाष्य प्रस्तुत किया था। सही मायनों में गाँधी अनासक्त योगी थे, स्थितप्रज्ञ थे।

गाँधी जीवन को ही आंदोलन मानते थे - असत्य से आंदोलन, पराधीनता से आंदोलन। चाहे वह असत्य समाज में हो, व्यक्ति के मन में हो या सरकार में हो। सरकार, चाहे वह अपनी ही सरकार क्यों न हो, यदि असत्य के मार्ग पर है तो उसके विरुद्ध आंदोलन होना चाहिए। गाँधी किसी आंदोलन का हिस्सा नहीं थे, वरन उनका अपना जीवन ही अपने-आप में आंदोलन था। यही कारण है कि गाँधी झूठ, पाखंड और अनाचारों से भरे माहौल में जहाँ-जहाँ गए, एक आंदोलन पैदा हो गया। गाँधी से पहले दक्षिण अफ्रीका में कितने लोग गए थे, पर वहाँ रंगभेद और अत्याचार-अन्याय से भरे माहौल में गाँधी के जाते ही एक आंदोलन पैदा हो गया। और भारत में तो उनका पूरा जीवन ही आंदोलन में बीता। पिछली कई शताब्दियों में गाँधी जैसा युगांतरकारी व्यक्तित्व पैदा नहीं हुआ। उनकी निरंतर सक्रियता और गतिशीलता हर जगह उथल-पुथल पैदा कर देती थी। एक आंदोलन शुरू हो जाता था। गाँधी जहाँ भी जाते - हलचल मच जाती - पुलिस को लाठियाँ और गोली चलानी पड़ती। ऐसी अशांति मचती कि ब्रिटिश सरकार तक हिल जाती। इसलिए गाँधी को जो सत्य और अहिंसा के पुजारी थे, कायर, डरपोक या भीरु नहीं कहा जा सकता। उनका व्यक्तित्व एक ऐसे योद्धा का था, जिसने बगैर हथियार उठाए, जनतांत्रिक तरीके से अपना संघर्ष चलाया था। इसलिए गाँधी होने का अर्थ 'रघुपति राघव राजाराम' जैसा भजन गाना नहीं है, या अत्याचार और असत्य से सिर झुकाकर समझौता कर लेना नहीं। गाँधी

होने का अर्थ है - हर अन्याय और अत्याचार से लड़ना, सड़ी-गली व्यवस्था को समाप्त करने के लिए अशांति और गड़बड़ी पैदा करना, और एक आंदोलन शुरू करना जो बेहतर के लिए हो, सुख और शांति के लिए हो।

१९४२ के भारत छोड़ो आंदोलन के समय उन्होंने अपने अहिंसक विरोध के बारे में कुछ बातें कही थीं, जो दिल्ली डायरी के दूसरे खंड में संकलित है - 'आजकल की सरकार व्यवस्थित हिंसा का मानों एक दूसरा नाम है और हम उसे स्वीकार करते हैं, उसकी सत्ता के नीचे रहते हैं। मेरा मत है उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। कई साल पहले मैंने बिहार में इस बात का इशारा किया था। वहाँ पर पुरुषों ने पुलिस को स्त्रियों का अपमान करने दिया। उनका सामना करने की जगह वे भाग गए। मैंने उनको बुजदिल बनने को नहीं कहा था। उनका तो धर्म था कि स्त्रियों की रक्षा में हिंसक या अहिंसक तरीके से जान लड़ा देते। ...अगर बिल्ली चूहे पर हमला करे और कोई बहादुर चूहा सामने आकर अपने दाँत से बिल्ली का सामना करे तो चूहे ने हिंसा की, ऐसा आप कहेंगे? उस समय मैंने यह दलील दी थी, मगर विचार का महत्व और अर्थ उस समय आज की तरह स्पष्ट नहीं हुआ था।' गाँधी के इस वक्तव्य का आज अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि हम अन्याय, अत्याचार, गलत व्यवस्था को सिर झुकाकर स्वीकार न करें अपितु इनके विरुद्ध एक आंदोलन चलाएँ। और ऐसा करने वाला एक योद्धा ही कहा जाएगा।

गाँधी एक ऐसे योद्धा थे, जिन्होंने अन्यायी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध तो लगातार आंदोलन चलाया ही, अपने समाज में व्याप्त जाति-पाँति, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच आदि को समाप्त करने की कोशिश की। उन्होंने महलों से ज्यादा कुटिया को महत्व दिया। शहर और संभ्रांत वर्ग की जगह गाँव और किसान की उन्नति पर जोर दिया। उन्होंने बेशकीमती वेशभूषा की जगह लँगोटी को धारण किया। १९३१ ई. में गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए जब गाँधी लंदन गए थे, तब उनके ठहरने के लिए लंदन के एक बड़े होटल में व्यवस्था की गई थी, किंतु उन्होंने 'ईस्ट एंड' की मजदूर बस्ती में रहना पसंद किया था। एक लँगोटी बांधे, हाथ में लाठी लिए वे लंदन गए थे - ठीक भारतीय किसान की वेशभूषा में। कोई तामझाम नहीं, कोई नौकर, अंगरक्षक नहीं। सिर्फ कुछ शिष्य और एक बकरी उनके साथ थी। अपने इसी ढंग पर उन्होंने १९३० ई. में दांडी यात्रा की थी एवं नमक कानून को तोड़ा था। इसी वेशभूषा में उन्होंने पूर्वी बंगाल के दंगाग्रस्त क्षेत्र, जिसे नोआखाली कहा जाता है, पैदल यात्रा की थी। अपने जीवन के अंतिम कुछ महीनों में वे दिल्ली की भंगियों की बस्ती में रह रहे थे।

इस तरह गाँधी अपने जीवन के द्वारा ऐसा करके एक आदर्श उपस्थित कर रहे थे, जिसका एक बड़ा उद्देश्य था। १९४५ ई. में गाँधी ने जवाहरलाल नेहरू को एक पत्र लिखा था - हम देश को बदलने के लिए लड़ रहे हैं। तुम मुझे बताओ कि देश को बदलने के लिए तुम्हारे दिमाग में कौन-सा नक्शा है? मेरे दिमाग में देश बदलने का नक्शा है - गाँव शक्ति का केंद्र बनेंगे, गरीब के बारे में सोचा जाएगा। नेहरू ने गाँधी के पत्र का जवाब नहीं दिया तो उन्होंने राजकुमारी अमृत कौर से उस पत्र का अंग्रेजी अनुवाद करवा कर नेहरू को पुनः भेजा। तब नेहरू ने उत्तर दिया - आप जो सोचते है, वह मुझे जँचती है। इस पर गाँधी ने पुनः लिखा - लेकिन तुम्हें मेरा रास्ता जँचता नहीं। मेरा तुम्हारा रास्ता अलग-अलग है।

यह सही है कि गाँधी और नेहरू का रास्ता अलग-अलग था। इसीलिए स्वाधीनता के बाद देश नेहरू के रास्ते पर चला। 'गाँधी की जय' बोलते हुए भी कांग्रेसी समाज गाँधी के बताए रास्ते पर एक भी कदम नहीं बढ़ा सका। यहाँ तक कि उनके जीवन-काल में ही उन्हें अकेला कर दिया गया था। उनकी

मर्मस्पर्शी वाणी का नमूना देखिए - 'न जनता को मेरी जरूरत है और न उन लोगों को जिनके हाथ में सत्ता है। मैं तो यही चाहता हूँ कि मैं काम करते-करते मरूँ और जब मेरे प्राण निकलें तब भी मेरे होठों पर ईश्वर का नाम हो।'

मई, १९४७ की एक सुबह, जब आजादी और देश-विभाजन की तैयारी हो रही थी, दिल्ली की सड़कों पर टहलते हुए एक शिष्य ने उनसे पूछा - 'फैसले की इस घड़ी में आपका कहीं जिक्र नहीं है। ऐसा लगता है, आपको और आपके आदर्शों को तिलांजलि दे दी गई है।' इस पर गाँधी ने बड़े ही दुखी मन से जवाब दिया था - 'हाँ, मेरी तस्वीरों और मूर्तियों को हार पहनाने के लिए हर आदमी उत्सुक रहता है, लेकिन मेरी सलाह मानने को कोई तैयार नहीं।'

गाँधी अकेले क्यों हो गए थे? उनकी पुकार सुनने वाला कोई नहीं रह गया था। इसका कारण क्या था? सभी नेता सत्ता और ऐश्वर्य के बंदर बाँट में लगे थे, दूसरी तरफ विभाजन के साथ बीसवीं शती के सबसे भयानक दंगों की अग्नि में पूरा देश जल रहा था। अकेले गाँधी उस अग्नि को बुझाने के लिए दौरा कर रहे थे। आजादी के संघर्ष के रथ को जिस गाँधी ने लंबे समय तक खींचते हुए विजय के द्वार तक लाकर खड़ा कर दिया था, वहीं गाँधी अकेला हो गया था, उसका सपना धराशायी हो गया था। गाँधी विभाजन नहीं चाहते थे। वे कहते थे - 'भारत का बँटवारा मेरी लाश पर होगा। अपने जीते-जी, मैं कभी भारत के बँटवारे के लिए तैयार नहीं हो सकता।' लेकिन गाँधी को जीते-जी मारकर बँटवारा हुआ। गाँधी हिंदू-मुस्लिम एकता चाहते थे और इसके लिए उन्होंने लगातार प्रयत्न किया था। पर उनके जीवन-काल में ही भीषण मारकाट मची। वे ग्रामोत्थान चाहते थे, किंतु उनके शिष्य सत्ताधारी होकर ऐश्वर्य की जिंदगी जीते हुए उस सीमांत के आदमी को भूल चुके थे। उनके बारे में गाँधी ने मृत्यु के पूर्व कहा था - 'ये लोग मुझे महात्मा कहते हैं, लेकिन मैं आपसे बताता हूँ कि ये लोग मेरे साथ भंगी जैसा सलूक भी नहीं करते।'

आज भी गाँधी के बारे में कमोबेश यही स्थिति है। तो फिर गाँधी के होने का जो अर्थ है, वह निरर्थक हो गया?

जहाँ सच्चाई है, ईमानदारी है, निष्ठा है, आस्था है, अन्याय का प्रतिरोध है, अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उठा जन-आंदोलन है, वहीं गाँधी हैं और वहीं गाँधी होने की सार्थकता है।

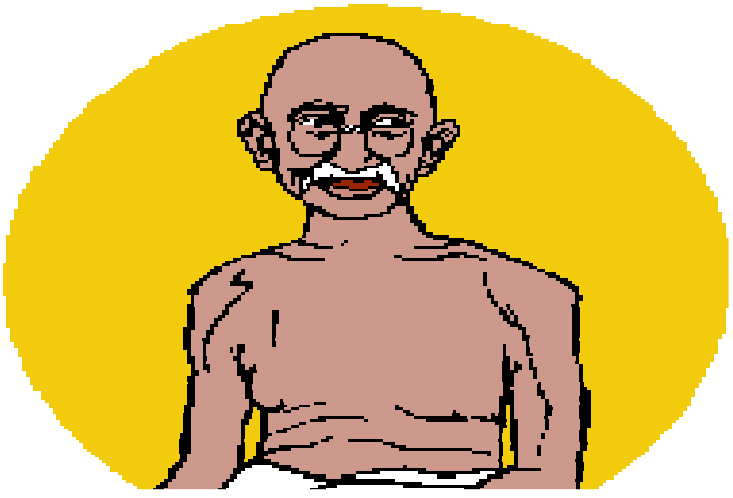

हिमाभिषेक

अनन्त आलोक

वातावरण में तैर जाती भजनों गूंज
महकती धूप सुगंधि.
इधर
देवाधिदेव महादेव की तपःस्थली
चूड छोटी चूडधार
खड़ी है एकदम मौन
जम गया है पर्वत की रगों में दौड़ता
रंगहीन सुगन्धित रक्त
हड्डी मांस ने कर ली है जुगलबंदी
और शरीर हुआ पाषाण
समस्त प्राणी हो गए हैं कैद
अपने अपने घरों, रिवाड़ों और घूरियों में.
कौन करे पूजा पाठ
वंदन, अर्चन कौन करे जलाभिषेक !
ऐसे में स्वयं इंद्र ने लिया संज्ञान
शिवलिंग पर चढ़ाया लोटा जल
नंगे पाँव.
जोड़ कर हाथ किया प्रणाम
और कर दिया
हिमाभिषेक
हवा ने बजाई कड़तालियाँ
मेघों ने ढोल नगाड़े और मृदंग
चंचला ने खींचे कुछ चित्र
शेर ने किया शंखनाद और
देवांगन में खेल रही
अमूल्य जड़ी बूटियों तगर, कडू आदि ने
खोल दिए नाभि क्षेत्र
और महक उठी
पर्वत घाटी.

नारी वेदना : आस्था-अनास्था की पगडंडियों पर श्रद्धेय होने की

यतीन्द्र नाथ चतुर्वेदी

समाज व्यक्तियों और परिवारों का समूह है। समाज की व्यवस्था में परिवर्तन का वस्तुतः व्यक्तियों और परिवारों पर प्रभाव न्यूनाधिक पड़ता ही है। व्यक्तियों का घटक परिवार होता है और परिवार स्वयं में स्त्री-पुरुष संबंधों का ऐसा केंद्र होता है, जिसका दर्पण समाज होता है। साम्यवाद और इसके विवेचक कार्ल मार्क्स हों या पूँजीवाद और इसके चिन्तक, वर्तमान वैश्विक मनीषी हों या धर्मदूत हों अथवा अध्यात्म के दैदीप्य केंद्र हों। स्त्री-पुरुष की पारिवारिक, सामाजिक अन्योन्याश्रयिता को नकारने की स्तिथि में अभी तक नहीं है।

हाँ, कुछ परिवार पिता के वंश के होते है, तो कुछ कुल माता के वंश से चलते है स्त्री का महत्व नेपोलियन बोनापार्ट के शब्दों में 'मुझे तुम दस सच्चरित्र माताएं दे दो, बदले में मैं तुम्हे एक महान और सबल राष्ट्र दे दूंगा।' उसने तो दस से कम नहीं सच्चरित्र माताएं मांगी थी, पर भारत में केवल और केवल एक सच्चरित्र माता जीजा बाई थीं, जिन्होंने एक शिवाजी ही मात्र नहीं, एक "महाराष्ट्र" भी इतिहास को प्रदान कर दिखाया था।

यह कितना विचित्र है कि 'रामलीला' का सामाजिक समारंभ 'ताड़का वध' और 'कृष्णलीला' का श्रीगणेश 'पूतना वध' से होता है। महर्षि वाल्मीकि और महर्षि कृष्णद्वैपायन हमारे व्यास कहना क्या चाहते है? इनके चिंतन का सारतत्व यही है कि सारे राष्ट्र के सभी पुरुष कुमार्गी हो जाएँ, पर एक भी स्त्री सच्चरित्र बची रहे तो एक नया ओजस्वी राष्ट्र हम पुनः बना लेंगे, पर एक भी स्त्री पूतना या ताड़का बनी और उसका उन्मूलन नहीं हुवा तो श्रेष्ठताओं का राष्ट्र भी धूल में जा मिल सकता है। प्राचीन की एक हेलन तत्कालीन दो राष्ट्रों की श्रेष्ठ सभ्यताओं और संस्कृतियों के पतन का कालजयी उदाहरण है। विनोबा जी कहते ही हैं - 'एक पुत्र को पढ़ाना केवल पुत्र को पढ़ाना है, पर एक पुत्री को पढ़ाना पूरे परिवार को पढ़ाना है।'

औद्योगिक विश्व जब पैदा हुआ और मशीनों कि सहभागिता बढी तो श्रम की भूमिका घटी और स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर कामों में आने लगी। 'कृषिप्रधान' युगों की नारी पर पुरुष प्रधानता के स्थान ने स्त्रियों को पुरुषों के बराबर ला खड़ा कर दिया। औद्योगिक विकास यूरोप में तीव्रतम रहा, अतः स्त्री-पुरुष बराबरी का मनोविज्ञान वहाँ तेजी का वातावरण बन गया। सामाजिक राजनीतिक अधिकारों पर बराबरी का बिगुल बजने लगा। अब स्त्री पुरुष की दासी नहीं, जीवन सहचरी बनने जीवन के क्षेत्र में चल पड़ी! पर, वेदों से पौराणिक तक फैली बस्तियां जानती है कन्या का अपने पर स्वत्व होता है, वह स्वयं जिसे आत्म-समर्पण करती है वही उसका पति होता है, जिसे वह परमेश्वर का सिंघासन देती है। मनु नारी का राष्ट्रीय मानचित्र प्रस्तुत करते हुये कहते है, जो विधिक दर्शन का प्रथम उपोद्घात है और सदियों को भेद कर आज भी गुंजायमान है-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। मनुस्मृति 3/56

नारी माँ के रूप में प्रथम-वन्दनीय और मार्ग-दर्शक भारत की सदियों ने देखा है। पत्नी रूप में सुख दुःख की दिन-रात रही है नारी भारत में। दोनों के बीच प्रेम के ह्रदय दीप जगमगाते रहे है - जीवन के अंधियारों में जब-जब सूर्य के प्रकाश साथ नहीं खड़े होते रहे। यह भारतीय नारी शेक्सपीयर के शब्दों में 'विमेन आर ब्लंडर मिस्टेक ऑफ़ गॉड' या 'ईश्वर की भयानक भूल नहीं थी'।

उन दिनों के ब्रह्मा, वशिष्ठ, अत्रि, अंगीरा, भृगु, बृहस्पति, शुक्र आदि आज के बुद्धिजीवियों से कहीं अधिक मेधावी मनीषी और चिन्तक थे। ब्रह्मा की सरस्वती, विष्णु की लक्ष्मी, शिव की पार्वती, राम की सीता, कृष्ण की राधा, वर्तमान नारियों की प्रेरणाश्रोत शाश्वत बन गए समय पर स्थापित हैं। स्त्रियाँ रणक्षेत्रों में युद्धरत भी उन दिनों के रणक्षेत्रों में मिलती हैं। 'महाकाली' 'मधुकैटभ' के विरुद्ध एक सफल अभियान रही है! 'महालक्ष्मी' 'महिषासुर' के युद्ध-तंत्र को विध्वंस कर डालती है! 'महासरस्वती' 'शुम्भ-निशुम्भ' के आतंकवादी संगठन को समाप्त कर शांति और समृद्धि के युग का आरम्भ कराती मिलती है। 'गौरी शंकर' एक समय 'अर्द्धनारीश्वर' बन जाते है उन दिनों के भारत ने देखा है। आज का भारत भी ऐसे महान दृश्य देखने को प्राचीन द्वारा आमंत्रित है।

न जाने कब कहाँ, कैसे नारी को अबला कह दिया गया! दो-दो नवरात्रों के इस देश को, इसके नारी सम्मान के मनोविज्ञान को, कहते-सुनते पढ़ते पाया जाता है -

यो माँ जयति संग्रामे यो मे दर्प व्यपोहति,

यो मे प्रति बलों लोके स मे भरता भविष्यति| दुर्गा सप्तशती 5/120

नारी शक्ति है। शक्ति के बिना शिवो-शिव का शैवागम -उद्घोष इस देश के कर्णरंध्र सुनते आ रहे है। पिता से माता सहस्र गुणा पूज्या है -

सहस्त्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्ते।। मनु 2/145

वेदों की नीति मेंन स्वैरी स्वैरणी कुतः || छान्दोग्योपनिषद 5/11/5

सच्चरित्रता दमकती स्त्री-पुरुष की सहगामिनी है। वेद वाणी गृहसूक्त बन कर नारी का उद्बोधन करती है-

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्रुवां भव।

ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु।। ऋग्वेद 10.85.46.

वेदों में स्त्री ससुर, पति, पुत्रादि की कमाई की मालकिन थी। आज उसे पुरुष के बराबर लाने की कवायद उसे उसके उच्चासन से पदावनत करना जैसा है। सावित्री यमराज पर भारी पड़ती है। शाण्डिली सूर्य के उदय को रोकने की शक्ति से संम्पन्न मिलती है। गार्गी, लोपामुद्रा ऋचाओं की सर्जनात्मक क्षमता से समृद्ध है। कैकेई युद्धभूमि में मूर्छित हुए दशरथ का स्थान लेकर रणंजई कौशल प्रस्तुत करती मिलती है। ब्राह्मण युग की संक्रांति में यशोधरा, सुजाता, आम्बपाली, जैसी नारियाँ साधकों का उद्धरण बनी है। इसी तरह वेदों और पौराणिक युग में पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक सभी क्षेत्रों में नारियाँ अग्रिम पंक्ति में सम्मानित रहीं है। यहाँ तक की राम रावण युद्ध में शूर्पणखा की भूमिका का अपना सैन्य विज्ञानी महत्व है। इन युगों में

नारियाँ शांति सेवा समृद्धि की प्रौद्योगिकी और प्रायोगिकी दोनों भूमिकाओं में मिलती हैं। वैदिक और पौराणिक नारी दिन और रात के मध्य की वह संध्या (वंदना बेला) जहां दिन थक कर उनके आँचल में सिर रख कर विश्राम यामिनी की निद्रा पाता है और एक नयी स्फूर्ति के साथ ऊषा की प्रभात फेरी में पुनः सक्रियता के औद्योगिक डग भरने लगता है।

क्या यही प्यार है..

हेमा महाडीक लोखंडे

शाम और सहर क्यों मुझे सिर्फ तेरा ही ख़याल है
दिल को न तो चैन है और न ही करार है
मेरी हर धड़कन में बस गया जो है
ऐ सनम - क्या यही प्यार है..

दूर है बहुत फिर भी, जैसे वो बेहद ही करीब है
शाबान की तन्हाईयाँ क्यों लगे आज दुश्वार है
दिल भी हर वक़्त किसी से करता बात है
ऐ दिलबर- क्या यही प्यार है..

मेरे दिल पर क्यों आज सिर्फ़ लिखा तेरा नाम है
वो सपनो में देता जैसे मुझे कोई आवाज़ है
सुना था लोगो से, ये मीठा सा अहसास है
ऐ दोस्त - क्या यही प्यार है...

प्यार की धुन, ऐसे बजी जैसे कोई शहनाई है
शायद मेरे रब की दी हुई मीठी सौगात है
नज़्म बने, अगर लिखा कोई अलफ़ाज़ है
ऐ मनमीत - क्या यही प्यार है..

हर नाम से पकीजह लगे सिर्फ़ तेरा और तेरा ही नाम है
कल तक जो अग्यार था, आज क्यों सबसे पास है
मेरी कलम ने भी इफ्फत से लिया वो नाम है
ऐ जानम - क्या यही प्यार है...

तुझे नैनो में बसा कर भी क्यों सिर्फ तेरा ही इंतज़ार है
तेरे ही सामने क्यों मेरी आँखें मुज़तरिब, शर्मसार है
तेरे दीदार की चाह, और मिलने की जैसे आस है
ऐ दिलदार - क्या मुझे तुझसे प्यार है ..

विस्थापन की त्रासदी

डॉ० शिबन कृष्ण रैणा

यह शहर राजरानी के लिए नया नहीं था। पिछले दस सालों से वह प्राय: हर साल यहां सर्दियों में दो-तीन महीनों के लिए अपने बड़े बेटे सुशील के पास आती थी। सुशील यहां एक बड़ी कंपनी में मुलाजिम था। अब उसने अपना मकान बनवा लिया था और पिछले दो सालों से उसी में रह रहा था। कार भी उसने इसी वर्ष ले ली थी। अपने बेटे की तरक्की देख कर राजरानी बहुत प्रसन्न थी, पर कभी-कभी मन ही मन सुशील की उन्नति की तुलना अपने छोटे बेटे उपेंद्र से करती। हालांकि उपेंद्र अपने बड़े भाई जितना संपन्न नहीं था, पर दोनों मियां-बीवी नौकरी करते थे। दो बच्चों वाले छोटे-से परिवार की उनकी गृहस्थी बड़े आराम से चल रही थी। पर जब राजरानी अपने बड़े बेटे के पास होती तो उसे छोटे बेटे के घर में अभाव ही अभाव नजर आता और वह किसी भी तरह उन अभावों को दूर करने की उधेड़-बुन में लगी रहती।

बड़ी बहू को सास की यह बात अक्सर खटकती। वह कभी-कभी कह भी देती- 'माताजी, आप तो केवल शरीर से हमारे पास होती हैं, मन तो आपका देवरजी और उनके परिवार के साथ होता है।' इस पर राजरानी बहू के सिर पर हाथ फेरते हुए कहती- 'बहू, तुम ऐसा क्यों सोचती हो? मेरे लिए तो जैसा सुशील, वैसा उपेंद्र। हां, जिन हालात में उपेंद्र इस वक्त रह रहा है, उसकी कल्पना करते ही मन उदास हो जाता है।'

दरअसल, सच भी यही था। उसका छोटा बेटा पिछले दो साल से अपने परिवार सहित जम्मू में विस्थापितों के लिए बने एक शरणार्थी शिविर में रह रहा था। दो साल पहले राजरानी और उपेंद्र को थोड़ा-सा सामान लेकर रातों-रात श्रीनगर से भाग कर जम्मू आना पड़ा था। विस्थापन की वह घटना राजरानी को एक दुस्वप्न के समान आज तक याद थी। यहां पहुंच कर उसे हमेशा चिंता सताती रहती कि जाने उपेंद्र और उसका परिवार शरणार्थी शिविर में कैसे रह रहा होगा! राजरानी ने एक दिन सुशील से कहा था- 'बेटा जरा उपेंद्र को चिट्ठी तो लिखना। बहुत दिनों से उसकी कोई चिट्ठी नहीं आई। उसका हालचाल पूछना। कहना, किसी चीज की चिंता न करे। मन न लगे तो कुछ दिनों के लिए चला आए यहां। बच्चों को भी साथ ले आए।'

मां का अंतिम वाक्य सुन कर सुशील तनिक सोच में पड़ गया था। इससे पहले कि वह कुछ कहता, उसकी पत्नी बीच में बोल पड़ी - 'माताजी, इन्होंने चिट्ठी कब की लिख दी होती, मगर मेरे माता-पिता कुछ ही दिनों में जम्मू से यहां आ रहे हैं। शिविर में रहते-रहते पिताजी की तबीयत बिगड़ गई है। उन्होंने यहां आने को लिखा है। यहां बड़े अस्पताल में उनका इलाज चलेगा।'

'तो क्या हुआ, वे लोग भी रह लेंगे। तुम लोगों के पास अपना मकान है। किस बात की कमी है?' राजरानी सहज भाव से बोली थी।' 'माताजी, यह दिल्ली है। जितना बड़ा यह शहर है, उतने ही बड़े यहां के खर्चे भी होते हैं। और फिर इस मकान में कमरे भी तो कुल तीन हैं। इतने सारे लोग कैसे रह सकेंगे एक साथ?'

'अरे, तुम मेरी चिंता मत करो। मैं बाहर बरामदे में खाट डाल कर सो जाया करूंगी। निकल जाएंगे ये कष्ट के दिन भी। राजरानी ने समस्या का निदान सुझाते हुए कहा और सुशील की तरफ आशा-भरी दृष्टि से देखने लगी थी। सुशील ने चुप्पी साध ली थी। बेटे की इस चुप्पी ने राजरानी के तन-मन में

उदासी भर दी। उसे लगा जैसे उसका सिर घूम रहा है। शक्ति बटोर कर वह केवल इतना कह पाई- अच्छा बेटा, जैसी तुम लोगों की मर्जी।

कुछ ही दिनों में बहू के माता-पिता जम्मू से आ गए। घर में अच्छी चहल-पहल रही। रिश्तेदारों की बातें, शिविर, विस्थापन, मौसम आदि की बातें। राजरानी ये सारी बातें सुन तो लेती, पर मन उसका शिविर में पड़े अपने छोटे बेटे के साथ अटका रहता। एक दिन सुशील ने टोकते हुए कहा- मां, ऐसे गुमसुम-सी क्यों रहती हो? चलो, आज तुम्हें मंदिर घुमा लाते हैं। ये सब लोग भी चलेंगे। कार में जाएंगे, चलो जल्दी करो, कपड़े बदल लो।' राजरानी कुछ नहीं बोली।

'उठो न मां, कपड़े बदल लो।' सुशील ने हाथ पकड़ कर मां को उठाना चाहा। 'नहीं बेटा, मैं मंदिर नहीं जाऊंगी।' राजरानी गुमसुम-सी बोली।

'मगर क्यों?'

'देखो बेटा, तुम इनको लेकर मंदिर चले जाओ। लौटती बार मेरे लिए जम्मू का एक टिकट लेते आना। मैं भी शिविर में ही रहूंगी। सुना है, घाटी में हालात ठीक होने वाले हैं। शायद वापस जाना नसीब में लिखा हो।'

'यह एकाएक तुमने क्या सोच लिया मां?'

'मैंने ठीक ही सोच लिया बेटा। मुझे अपने वतन, अपने घर की याद आ रही है। मैं वहीं जाना चाहती हूं। मेरा टिकट ले आना। मेरा टिकट ले आओगे तो समझ लेना मैंने मंदिर के दर्शन कर लिए!' राजरानी सुशील को एकटक निहारते हुए बोली।

सुशील अवाक्-सा मां को देखता रहा। दोनों की आंखें सजल थीं। विस्थापन की त्रासदी मानवीय रिश्तों में ऐसे सेंध लगाएगी, किसे मालूम था?

आईने काले हो गए

प्रभात 'परवाना'

सच्चाई के आईने, काले हो गए,
बुझदिलों के घर में, उजाले हो गए,
झूठ बाज़ार में, बेख़ौफ़ बिकता रहा,
मैंने सच कहा तो, जान के लाले हो गए.....

लहू बेच बेच कर, जिसने, औलादें पालीं,
भूखा सो गया, जब बच्चे कमाने वाले हो गए.....

लहजा मीठा, मिजाज़ नरम, आँखों में शरम,
सब कुछ बदल गया, जब वो शहर वाले हो गए.....

अपनी कमाई से, एक झोपड़ी ना बना सके,
वो सियासत में आये, तो महल वाले हो गए...

आशीर्वाद

ऊर्मिल शर्मा

हाथ सर पर रख
माँ के
आशीर्वचनों से आप्लावित
मैं
नव स्फूर्ति से
चौकड़ी भर भर उछाल मारती मृगी सी
सब को पीछे छोड़ती
थोड़ी सी
और बड़ी हो जाती हूँ
फिर चाहे वह माँ जन्मदात्री हो या मातृभूमि.

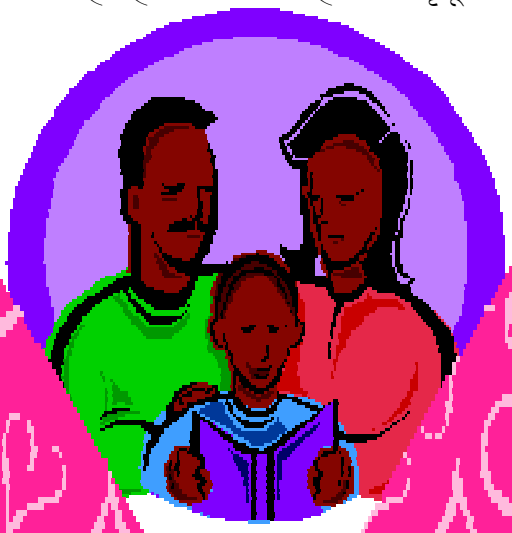

फागुनी सुहाग

रजनी मोरवाल

होली में बिखरा है रंगों का फाग,
बाँहों में सिमटा है प्रियतम का राग |

भोर हुई चिरमी का रंग हुआ लाल,
आँगन में फैला है प्रीति का गुलाल,
जंगल में दहकी है टेसू की आग |

अलबेली किरणों ने खोल दिए द्वार,
साजन ने भिजवाया चिठिया में प्यार,
आँखों में तेरे गया फागुनी सुहाग |

पर्वत का नदिया से कैसा अनुबन्ध,
घाटी भी पूछ रही ये क्या सम्बन्ध,
अधरों का उत्तर था प्रेमिल अनुराग |

फागुन के दिन आ गये.....

मनोज कुमार शुक्ला

कविता के रस रंग में, फागुन की सुरताल।
सजी हुई इस वर्ष भी, होली की चौपाल ।।
यह फागुन छाया है, बहारें लाया है ।
यह होली आई है, रंगों को लायी है ।।....
फागुन के दिन आ गये, मन में उठे तरंग ।
हँसी ठहाके गूँजते, चौपालों में संग ।।
कि बालें पक आईं, खेतों में लहरायी.....
महफिल फागों की सजें, टिमकी और मृदंग ।
दाऊ नाचे लट्ठ ले, हुरियारों के संग ।।
कि बसंती ऋतु छाई, सभी के मन भायी...
घर घर गावें टोलियाँ, नर नारी के संग ।
आओ अब निकलो सभी, हाथों में ले रंग ।।
वो कोयल कूक रही, मधुरिमा घोल रही...
प्रेम रंग में डूब कर, सभी बजावें चंग ।
पिचकारी में रंग भर, गोरी खेलें संग ।।
राधा किशन की जोड़ी, खेलती ब्रज में होरी...
जीवन में हर रंग का, है अपना सुरताल ।
पर होली में रंग सब, गलें मिले हर साल ।।
कि छोड़ो बैर बुराई, इसी में सबकी भलायी...
अरहर झूमे खेत में, आम बना सिरमौर ।
खुशहाली पुरवा बहे, तन मन नाचे मोर ।।
गाँव की किस्मत जागी, घरों में खुशियाँ छायी....
जंगल में टेसू हँसे, गाँव खिली गुलनार ।
चम्पा महके शहर में, बाग हुए गुलजार ।।
प्रकृति की छटा निराली, ख़ुशी से झूमे धरती .....
ईशुर फाँगें गा रहे, गाँव शहर के लोग ।
बासंती पुरवाई संग, झूम रहे सब लोग ।।
ये होली ऋतु आयी, सभी के मन भायी
यह होली आई है, रंगों को लायी है ।।....
दहन करें मिल होलिका, घर-घर उड़े गुलाल ।
गले मिलें मिल जुल सभी, मन के हरें मलाल ।।
कि एकता मुसकायी, विकास की डगर दिखायी.....

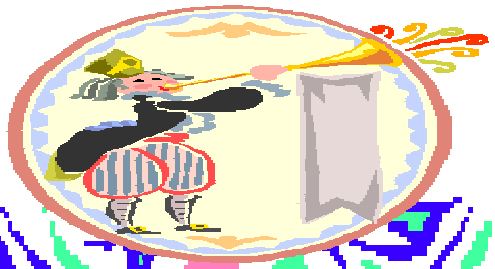

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)
कैकेयी : चेतना-शिखा	(उपन्यास, राष्ट्रपति भवन पुस्तकालय में संग्रहित)
आज का समाज	(लेख-संग्रह)
चिन्तन के धागों में कैकेयी	
संदर्भ : श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण	(शोध-ग्रन्थ)
कैकेयी : चेतना-शिखा	(उपन्यास, द्वितीय संस्करण, साहित्य अकादमी म. प्र. अखिल भारतीय 'वीरसिंह देव' पुरस्कार सम्मान)
कैकेयी : चिन्तन के नव आयाम	
संदर्भ : तुलसीकृत श्रीरामचरितमानस	(शोध-ग्रन्थ)
लोक-नायक राम	(उपन्यास)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित